एम० एन० राय का दार्शनिक चिन्तन

डा० ललित किशोर गुप्त
स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा

जानकी प्रकाशन
पटना : दिल्ली

प्रकाशक :

नन्दकिशोर सिंह
जानकी प्रकाशन
अशोक राजपथ, पटना-4

शाखा कार्यालय :

नई दिल्ली

प्रथम संस्करण : 1989

ISBN 81-85078-40-8

मूल्य : 100·00

मुद्रक :

संतोषी प्रिन्टर्स
शाहगंज, पटना-6

पूज्य पिता जी श्री रामसेवक प्रसाद साहु
को सादर समर्पित

दो शब्द

दर्शन के विद्यार्थियों तथा दर्शन में रूचि रखने वाले पाठकों के सम्मुख "मानवेन्द्र नाथ राय का दार्शनिक चिन्तन" प्रस्तुत करते हुए मैं विशेष आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। भारतीय दर्शन की परम्परा प्रमुखतः अध्यात्मवादी रही है। इसका मूल स्वरूप आध्यात्मिक है। प्राचीन काल से लेकर समकालीन युग तक के अधिकांश दार्शनिक आध्यात्मवादी ही रहे हैं। यद्यपि यह भी सत्य है कि भारतीय दर्शन में भौतिकवादी विचार भी प्रारम्भिक काल से ही किसी न किसी रूप में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये वेदों एवं उपनिषदों में कहीं-कहीं व्यक्त भौतिकवादी एवं अनीश्वरवादी विचार, सांख्य दर्शन का प्रकृति विचार एवं वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद को देखा जा सकता है। चार्वाक दर्शन तो भौतिकवादी है ही। इस प्रकार आध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण मान्यतायें हैं।

समकालीन युग में मानवेन्द्र नाथ राय वैसे चिन्तक हैं जिन्होंने तत्कालीन दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि में मानव जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान ढूँढा है। इनका प्रारम्भिक जीवन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है किन्तु धीरे-धीरे इन्होंने अपने चिन्तन को तत्कालीन विश्वचिन्तन धारा की पृष्ठभूमि में ढाला है। इन्होंने भौतिकवादी चिन्तन के आधार पर विश्व एवं मानव जीवन की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

सामान्यतया मानवेन्द्र नाथ राय को राजनैतिक चिन्तकों की श्रेणी में ही रखा जाता रहा है किन्तु विगत कई वर्षों से इन्हें समकालीन चिन्तन धारा के मार्क्सवादी प्रवर्तक के रूप में आधुनिक दर्शन में भी स्थान प्राप्त होने लगा है। किन्तु अपने अध्ययन एवं अध्यापन के क्रम में मैंने देखा कि मानवेन्द्र नाथ राय के दार्शनिक चिन्तन के सम्बन्ध में पुस्तकों का घोर अभाव है। विशेष रूप से हिन्दी में तो शायद कोई भी पुस्तक नहीं है जिससे इनके दार्शनिक चिन्तन का ज्ञान पाठकों को हो सके। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव को पूरा करने का एक विनम्र प्रयास है। आज संभवतः प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विषय के एम० ए० कक्षा के मानवेन्द्र नाथ के दार्शनिक चिन्तन के विभिन्न पहलूओं को पाठ्यक्रम में समावेषित किया गया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए एक सुव्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन की जो अधारभूत मान्यतायें हैं, जैसे—ज्ञानमीमांसीय विचार, तत्वमीमांसीय

विचार, आचारशास्त्रीय विचार एवं समाजशास्त्रीय विचार इन सबों के सम्बन्ध में मानवेन्द्र नाथ राय के मौलिक विचारों का अन्वेषण कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि एम एन० राय न केवल एक प्रखर मार्क्सवादी राजनैतिक चिन्तक हैं बल्कि एक सफल दार्शनिक चिन्तन के भी प्रणेता हैं। मेरी इस पुस्तक से दर्शन-शास्त्र के विद्यार्थियों एवं दर्शन में अभिरूचि रखने वाले विद्वान पाठकों को यदि थोड़ा भी लाभ हो सके तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा। पुस्तक के परि-मार्जन के सम्बन्ध में विद्वान पाठकों के सुझावों के लिए मैं उनका अभारी रहूँगा।

इस पुस्तक के लिखने के क्रम में सर्वप्रथम मैं अपने परिवार के समस्त सदस्यों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। पूज्य माताजी एवं पिताजी का मैं आजीवन ऋणी रहूँगा जिनके ज्ञान एवं स्नेह ने मुझे सतत कार्यशील बनाये रखा। पूज्य गुरुदेव प्रोफेसर मृत्युंजय नारायण सिंह दर्शन विभाग, बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर का मैं ऋणी हूँ जिनके आशीर्वाद से यह कार्य सम्पन्न हो सका। प्रोफेसर रघुवंश झा विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा का मैं आजीवन ऋणी रहूँगा जिनके अनवरत तकाजों एवं सुझावों तथा परामर्शों के कारण इस पुस्तक की रचना संभव हो सकी है। दर्शन विभाग, बिहार विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष एवं प्राचार्या पूजनीया डा० (श्रीमती) रेखा चौधरी का मैं हृदय से आभारी हूँ जिनका स्नेह एवं मार्ग दर्शन मुझे हरदम प्राप्त होता रहा है।

पुस्तक लिखने में मैंने जिन विद्वानों के ग्रन्थों अथवा लेखों की सहायता ली है इनके प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। इन सभी विद्वानों और उनके ग्रन्थों एवं लेखों के नामों का उल्लेख मैंने यथा स्थान कर दिया है। मैं इस पुस्तक के प्रकाशक श्री नन्दकिशोर सिंह जी जानकी प्रकाशन का हार्दिक आभारी हूँ। प्रस्तुत पुस्तक इनके व्यक्तिगत रुचि एवं प्रयास का ही प्रतिफल है।

अन्त में मैं अपनी धर्म पत्नी श्रीमती ममता गुप्ता का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने पारिवारिक जिम्मेदारियों को मेरे कार्य का व्यवधान नहीं होने दिया। इसके साथ ही पुस्तक के सम्बन्ध में अपने परामर्शों से भी इन्होंने इस कार्य में अमुल्य योगदान दिया है।

दीघी (पश्चिम)
प्रोफेसर्स कॉलोनी
दरभंगा-846004.

ललित किशोर गुप्त
स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

विषय-सूची

	पृष्ठ-संख्या
प्राक्कथन	(क-च)
अध्याय 1	
एम० एन० राय के चिन्तन की पृष्ठ भूमि	1
अध्याय 2	
एम० एन० राय के ज्ञानमीमांसीय विचार	11
अध्याय 3	
एम० एन० राय के तत्वमीमांसीय विचार	37
अध्याय 4	
एम० एन० राय के आचारशास्त्रीय विचार	59
अध्याय 5	
एम० एन० राय के समाजशास्त्रीय विचार	75
उपसंहार	103
संदर्भ एवं सहायक ग्रन्थों की सूची	124

प्राक्कथन

उग्र सुधारवादी मानवतावाद जिसे रेडिकल ह्यूमेनिज्म की संज्ञा दी गयी है वैसे विचार के बोधक हैं जो मानवेन्द्र नाथ राय के नाम से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि कभी-कभी ऐसे विचार को 'रॉयीज्म' भी कहते हैं। मानवेन्द्र नाथ राय वैसे समकालीन भारतीय चिन्तकों में हैं जिन्हें परम्परानिष्ठ मार्क्सवाद से उग्र सुधारवादी मानवतावाद की ओर अग्रसर होते हुये देखा जा सकता है। राय की चिन्तनधारा तत्कालीन दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक रुढ़ि से उपर उठकर तत्सम्बन्धी समस्याओं के सफल समीक्षा के प्रतीक हैं। अपनी किशोरावस्था में राय आतंकवाद से प्रभावित होकर, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्षरत होकर भारतीय स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करते हुये दीखते हैं। अभी युवावस्था में विदेशों के प्रवास में ये परम्परानिष्ठ मार्क्सवाद से प्रभावित दीखते है किन्तु अपनी प्रौढ़ावस्था में ये मार्क्सवाद की भी समीक्षा करते हैं तथा इनकी अपूर्णताओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुये दीखते हैं। अतः परम्परानिष्ठ मार्क्सवाद से उग्रसुधारवादी मानवतावाद की ओर इनके प्रवहशील विचार सफल जल यात्रा की तरह प्रतीत होते हैं।

भारतीय दर्शन की परम्परा प्रमुखतः आध्यात्मवादी रही है। समकालीन भारतीय चिन्तन में भी इसका स्पष्ट प्रभाव नव-वेदान्तवाद के रूप में देखने को मिलते हैं। मानवेन्द्र नाथ राय को ही समकालीन चिन्तन में जीवन एवं जगत की समस्त समस्याओं का भौतिकवादी समाधान ढूढ़ने का श्रेय प्राप्त है। इस दृष्टि से राय के विचारों का विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन किया जाना मात्र महत्वपूर्ण ही नहीं बल्कि विचार परम्परा की अभिवृद्धि के लिये सर्वथा न्यायोचित भी है।

मानवेन्द्र नाथ राय एक बहुसर्जक ग्रन्थकार हैं। इन्होंने जीवन से सम्बन्धित प्रमुख समस्याओं पर पुस्तकें लिखी हैं जिनका मूल तत्व मानव स्वतंत्रता के प्रतिपादन में निहित है। ह्वाट इज मार्क्ससिज्म ? द प्राब्लेम्स आफ फ्रीडम, साइन्स एन्ड फिलासॉफी, मैटेरियलिज्म, रेडिकल ह्यूमेनिज्म, रीज़न, रोमांटिसिज्म एन्ड रिभोल्यूसन तथा न्यू ह्यूमेनिज्म इनकी ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें इनके समस्त मौलिक विचारों का प्रतिपादन उपलब्ध है। राय को सामान्य तथा राजनैतिक चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। विगत कई वर्षों से इन्हें समकालीन चिन्तनधारा के मार्क्सवादी प्रवर्तक के रूप में आधुनिक दर्शन में भी स्थान प्राप्त होने लगा है। इनके उग्र सुधारवादी मानवतावाद को प्रमुख रायीस्ट भी० एम० तारकुण्डे ने अपनी पुस्तक में द फिला-सॉफी ऑफ डेमोक्रेशी कहा है। इससे भी यह स्पष्ट हो पाता है कि राय के विचारों का अध्ययन वैयक्ति दर्शन तथा समाजदर्शन के आयामों में ही किया जा सकता

है। डी० आर० बाली ने अपने शोध-प्रबन्ध माडर्न इंडियन थॉट में राय को एक दार्शनिक के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है किन्तु इनके इस शोध प्रबन्ध में राय के उग्र सुधारवादी मानवतावाद का ही संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध है। राय को एक दार्शनिक के रूप में उपस्थित करने का प्रथम प्रयास डॉ० विष्णुदेव नारायण ओझा ने अपने शोध-प्रबन्ध एम० एन० राय एन्ड हिज फिलासॉफिकल आइडियाज में किया है किन्तु इनकी पुस्तक में भी राय के दार्शनिक विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो सकी है। इसका एक मात्र कारण यह है कि इन्होंने राय के विचारों का अध्ययन परम्परावादी दार्शनिक ढाँचों में अर्थात् ज्ञानमीमांसीय तत्वमीमांसीय, आचारशास्त्रीय तथा धर्म दर्शन जैसे आयामों में करने का सफल प्रयास नहीं किया है। फिर भी ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति यहाँ परम्परा निष्ठ मार्क्सवाद से उग्र सुधारवादी मानवतावाद की ओर अग्रसर राय के विचारों में अस्फुट रूप में उपलब्ध हैं। प्रस्तुत पुस्तक राय के विचारों को सफल दार्शनिक ढाँचों में ढालने का प्रयास है। इसी दृष्टि से यहाँ राय की ज्ञानमीमांसा, राय की तत्वमीमांसा, इनके आचारशास्त्र एवं इनके समाजशास्त्रीय विचारों का अध्ययन कर यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि राय एक सफल दार्शनिक हैं जिन्होंने समस्त दार्शनिक समस्याओं का समाधान उग्र सुधारवादी मानवतावाद के दृष्टिकोण से किया है।

इस प्रकार राय न केवल एक दार्शनिक हैं बल्कि उनके द्वारा प्रतिपादित उग्र सुधारवादी मानवतावादी विचार एक सुव्यवस्थित दार्शनिक पद्धति के उदाहरण हैं।

राय के उग्र सुधारवादी मानवतावाद को नवमानवतावाद या सर्वांग मानवतावाद भी कहा जाता है। राय के द्वारा प्रतिपादित ऐसे विचार के अनुसार वर्षों से संयोजी गयी मानवता की सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि हमें वैज्ञानिक एवं प्रगतिपूर्ण पथ पर अग्रसर होने का संदेश देती है। मानव जीवन में निहित सर्वोच्च तत्वों का वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत करना ही ऐसे विचार का लक्ष्य है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वच्छन्द जीवन की प्रोन्नति तथा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर उन्मुक्त व्यक्तित्व का सम्यक विकास ही ऐसे विचार का ध्येय है। ऐसे दर्शन की प्रतिस्थापना के लिये राय ने परम्परागत विचारों का, विशेषकर परम्परागत दार्शनिक चिन्तनों का समीक्षात्मक अध्ययन किया है तथा अपने विभिन्न ग्रन्थों तथा लेखों के माध्यम से उग्र सुधारवादी दर्शन का प्रणयन किया है जिसका आधार ठोस एवं सच्ची ज्ञानमीमांसा, प्रौढ़ एवं वैज्ञानिक तत्वमीमांसा, सुसंगत एवं समीचीन आचारशास्त्र तथा प्रगतिशील एवं उग्र समाजशास्त्र है। ऐसे विचार को मूर्त रूप देने के लिए प्रस्तुत पुस्तक को पाँच अध्यायों में सुनियोजित किया गया है।

प्रथम अध्याय में समकालीन दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक

चिन्तन धारा का सर्वेक्षण कर राय के विचारों पर इनके प्रभावों को स्पष्ट किया गया है। भारतीय जीवन धारा के दृष्टिकोण से तत्कालीन स्थिति को भारतीय पुनर्जागरण की संज्ञा दी गई है। यह पुनर्जागरण भारतीय विद्वानों, इतिहासकारों, सन्तों, दार्शनिकों, सामाजिक एवं राजनैतिक सुधारवादियों एवं राजनैतिक धाराओं का प्रतिफलित रूप है। एम० जी० रानाडे, बी० जी० तिलक, बी० सी० पाल, श्री अरविन्द जैसे विवेचकों ने तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना के उत्थान में अपना सफल योगदान दिया है। राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे विद्वानों की सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों के विरूद्ध अपनायी गई ठोस भूमिका के महत्व को कम नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही भारतीय जन जीवन में तत्कालीन राजनैतिक विचारधाराओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है जिनके प्रवर्तकों में बंकिमचन्द्र चटर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, पण्डित मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय आदि थे। इन चिन्तकों ने तत्कालीन राष्ट्रीय चिन्तन धारा को नया मोड़ देकर अपनी अभूतपूर्व भूमिका निभायी है।

मानवेन्द्र नाथ राय के विचार भारतीय पुनर्जागरण की पूर्व पीठिका है। अपने आरम्भिक जीवन में भारतीय आध्यात्मवाद से वे बड़े प्रभावित थे किन्तु जब वे विदेशों में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे उन पर मार्क्सवादी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। मार्क्सवाद का केन्द्र स्थल मानवोद्धार है, मानव स्वतंत्रता को प्रश्रय देना है तथा सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को परिवर्तित कर देने का सफल प्रयास है। चूँकि एम० एन० राय के हृदय भी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के विचार से ओतप्रोत थे, इसलिये मार्क्सवाद के प्रति विस्तृत झुकाव होना इनके लिये सर्वथा स्वाभाविक ही था। इसके साथ-साथ 1917 ईसवीं के अक्टूबर में हुई रूसी क्रान्ति के प्रभाव से भी राय वंचित नहीं रह सके जिसके फलस्वरूप पुरानी सामाजिक व्यवस्था को समाप्त कर वैसे नये सामाजिक भविष्य की परिकल्पना की गई थी जिसका आधार शान्ति, समानता एवं न्याय माना गया था। अपने जीवन के अंतिम चरण में इनकी आस्था मार्क्सवाद में भी नही रह सकी। आर्थिक बाध्यता, वर्ग संघर्ष बचत मूल्य जैसे विचारों का विवेचन कर इन्होंने यह दिखलाया कि मार्क्स के विचारों में भी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ हैं। अतः मार्क्सवाद को अवनति से बचाने के लिए इन्होंने उग्र सुधारवादी मानवतावाद के विचार का प्रणयन किया है।

द्वितीय अध्याय में विश्व दर्शन में निहित ज्ञानमीमांसीय विचारों का सर्वेक्षण कर उग्र सुधारवादी मानवतावाद की ज्ञानमीमांसा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सामान्यतया ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों के रूप में विश्व दर्शन में ज्ञान सापेक्षतावाद तथा विषयनिष्ठवाद जैसे सिद्धान्त प्रचलित हैं। बर्कले तथा बेनेडेट्टो क्रोचे के ज्ञान सापेक्ष-

तावाद की समीक्षा अपनी ज्ञानमीमांसा में करते हुए राय यह मानते हैं कि ऐसे ज्ञानमीमांसीय विचार से भौतिक जगत की वस्तुनिष्ठता की आधारशिला तो कमजोर होती ही है साथ ही मानव ज्ञान के क्षेत्र में भी अस्तव्यस्तता आ जाती है। राय भौतिक जगत के वस्तुनिष्ठ अस्तित्व में अखंड आस्था रखते हैं। अतः इनकी ज्ञानमीमांसा की सर्व प्रमुख समस्या वैसे ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त की स्थापना करना है जिनके फलस्वरूप भौतिक जगत की वस्तुनिष्ठता की स्थापना को सशक्त आधार मिल सकें।

ऐसी ज्ञानमीमांसा को वे अनुभव के अनुभव उत्कर्ष पर आधारित मानते हैं। किन्तु ऐसे अनुभववादी विचार को वे लॉक की अनुभववादी परम्परा से भिन्न मानते हैं क्योंकि लॉक के अनुभववादी विचारों की अंतिम परिणति डेविड ह्यूम के संशय-वादी विचारों में होती है। यही कारण है कि राय अनुभववादी मान्यताओं को वस्तुवादी एवं भौतिकवादी विचारों के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करते हुये अपने विचार को आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों का समर्थक मानते हैं। इस दृष्टि से वे अपने ज्ञानमीमांसीय विचारों को वैज्ञानिक अनुभववाद की संज्ञा देते हैं।

तृतीय अध्याय में विश्व दर्शन के तत्वमीमांसीय विचार के परिप्रेक्ष्य में राय के तत्वमीमांसीय विचारों का विवेचन किया गया है। तत्वमीमांसा का सम्बन्ध विश्व की उत्पत्ति में निहित आधारभूत तत्व के विवेचन से है। ऐसे विवेचन में विश्व के मूल तत्व के स्वरूप तथा उनकी संख्या का प्रश्न उपस्थित होता है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर के क्रम में विश्व दर्शन में भौतिकवाद, आध्यात्मवाद, द्वैतवाद तथा तटस्थवाद एवं एकत्ववाद, द्वैतवाद तथा अनेकत्ववाद जैसे सिद्धान्तों का विवेचन उपलब्ध है। राय ने अपने तत्वमीमांसीय विचारों के विवेचन के क्रम में उपर्युक्त सिद्धान्तों की समीक्षा की है तथा भौतिकवादी विचार को अपने तत्व-मीमांसा में स्वीकार किया है। राय का उग्र सुधारवादी मानवतावाद भौतिकवाद के समीक्षात्मक विवेचन का ही प्रतिफलित रूप है।

राय के भौतिकवादी विचार परम्परागत आध्यात्मवादी विचार की समीक्षा तथा पाश्चात्य जगत में व्याप्त वैज्ञानिक विचार के गहन अध्ययन का फल है। एक सफल भौतिकवादी एवं निष्ठावान मार्क्सवादी चिन्तक की तरह राय यह मानते हैं कि दर्शन का कार्य विशुद्ध चिन्तन या निष्क्रिय मनन नहीं है। जगत एवं जगत की वस्तुओं के उद्भव एवं विकास का समीक्षात्मक विवेचन ही दर्शन का प्रमुख कार्य है। ऐसे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति भौतिकवादी दर्शन के माध्यम से हीं संभव है जिसके सहारे मनुष्य जगत के स्वरूप को परिवर्तित कर मानव जीवन को सुखी तथा जीने योग्य बना सकता है। राय के अनुसार भौतिकवाद का विकास पूर्णतः स्वाभाविक एवं सामान्य रूप में देखा जा सकता है। इसमें आस्था के कारण मनुष्य में आत्म-विश्वास का जन्म होता है जिससे वह अस्तित्व की रक्षा के लिये किये जाने वाले संघर्ष में पूर्ण शक्ति का अनुभव करता है। राय ने इस संदर्भ में पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों के विभिन्न उदाहरणों को उपस्थित कर यह सिद्ध किया है कि भौतिकवाद मात्र एक क्रान्तिकारी विचारधारा ही नहीं है अपितु प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत में व्याप्त सबसे पुरातन विचार-पद्धति है जिसे वे वैज्ञानिक भौतिकवाद की संज्ञा देते हैं।

चतुर्थ अध्याय में विश्व दर्शन में प्रचलित नैतिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में राय के नैतिक विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आचारशास्त्र का इतिहास वस्तुत: मानव इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। पाश्चात्य जगत में इसके प्रतिनिधित्व प्राचीन ग्रीक दर्शन में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु आदि करते हुये दीखते हैं। मध्य युग में इनका विकास सन्त अगस्ताइन, सन्त थॉमस इक्वेनस तथा आधुनिक युग में हॉब्स, स्पीनोजा, लॉक, ह्यूम कान्ट आदि के विचारों में देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त मूर द्वारा प्रतिपादित नॉननैचुरलिज्म, समकालीन नानकॉग्नीटिभिज्म तथा अस्तित्ववादी आचारशास्त्र बहुचर्चित आचारशास्त्रीय सिद्धान्त हैं। भारतीय आचारशास्त्र मानव सभ्यता का सबसे समृद्ध आचारशास्त्रीय विवेक का प्रतीक है। यहाँ नैतिक कर्तव्यों को निश्चित आध्यात्मिक एकत्व का सहायक माना गया है। ऐसे ही आध्यात्मिक अनुशासन के सहायक तथ्यों के रूप में वेदों एवं उपनिषदों में व्यक्त नैतिक कर्तव्य, जैन दर्शन के त्रिरत्नों, बौद्ध दर्शन के अष्टांगिक मार्गों सांख्य-योग का चित्तवृति निरोध तथा वेदान्त के साधन चतुष्टयों की अभिव्यक्ति हुई है।

अन्य विचारों की तरह एम० एन० राय के आचारशास्त्रीय विचार भी भारतीय एवं पाश्चात्य आचारशास्त्रीय विचारों के समीक्षात्मक विवेचन के फल हैं। राय धर्म निरपेक्ष मानवतावादी आचारशास्त्र के समर्थक हैं। भौतिक जगत के क्रिया कलापों में आस्था होने के कारण ही राय मानवीय क्रियाओं में किसी भी प्रकार की अलौकिक सत्ता के हस्तक्षेप को न्याय संगत नहीं मानते हैं। जगत की भौतिकवादी व्याख्या की पृष्ठभूमि में ही वे अपने आचारशास्त्रीय मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं। एक प्रबल मार्क्सवादी की तरह वे मानते हैं कि मनुष्य अपने समस्त नैतिक एवं बौद्धिक जीवन की प्रेरणा सामाजिक वातावरण से ही ग्रहण करता है। ये मानते हैं कि भौतिकवाद ही नैतिकता को वास्तविक आधार प्रदान करता है। ईश्वर के भय से नैतिक नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा बिना ईश्वर में विश्वास किये नैतिक नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति ही राय के अनुसार नैतिक व्यक्ति हैं। इस प्रकार वे न केवल भौतिकवादी आचारशास्त्र की सम्भावना सिद्ध करते हैं, बल्कि इसे ही एक मात्र संतोषप्रद आचारशास्त्र स्वीकारते हैं। ऐसे आचारशास्त्र में ही सारे अन्धविश्वास नष्ट हो जाते हैं तथा मनुष्य अपने को अपने भाग्य का निर्माता मानने की प्रतिष्ठा प्राप्त कर मुक्त जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त कर पाता है।

पुस्तक के पंचम अध्याय में विश्व समाज दर्शन के आलोक में एम० एन० राय के समाज शास्त्रीय विचारों का विवेचन किया गया है। समाज दर्शन का मूल उद्देश्य समाज में रहने वाले व्यक्ति को समझने का प्रयास के साथ सामाजिक चेतना सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक उद्विकास जैसे तथ्यों को प्रोन्नत करने की विधि या विधियों का अन्वेषण करना है ताकि मनुष्य एवं मनुष्य के बीच, मनुष्य एवं समाज के बीच तथा समाज एवं समाज के बीच सामंजस्य-पूर्ण समबन्ध का मार्ग प्रशस्त हो सके। दृष्टिकोण की भिन्नता के बावजूद पाश्चात्य समाज दर्शन एवं भारतीय समाज दर्शन की एकतत्वता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता तथा कहा जा सकता है कि प्रथम का आधार जहाँ जीवन एवं जगत की समस्याओं का सैद्धान्तिक विवेचन करना है, वहाँ दूसरे का सम्बन्ध इनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों के निरुपण से है।

राय का समाज दर्शन मार्क्सवादी समाज दर्शन का उदाहरण है। सामाजिक जीवन में राजनीति के महत्व को ये सर्वोच्च स्थान देते हैं तथा मानते हैं कि राजनैतिक समस्याओं के समाधान के साथ अन्य छोटी-छोटी कुरीतियाँ स्वयं समाप्त हो जाती हैं। राय ने अपने सामाजशास्त्रीय विचारों के विवेचन के क्रम में आदर्श राज्य, आदर्श समाज तथा आदर्श शासन की स्थिति का विवेचन किया है। इनके अनुसार प्रजातंत्र की विफलता का कारण सामान्यजन के बीच शिक्षा का अभाव है, ऐसे सामान्यजन के बीच जिन्हें प्रजातंत्र का वास्तविक रक्षक होना चाहिये। राय शिक्षा का अर्थ पुस्तकों के ज्ञान से नहीं बल्कि इनका अर्थ वे मनुष्यों में विवेकी तत्व के प्रश्रय से लेते हैं जिनका अर्थ व्यक्तियों द्वारा अपनी जन्मजात संभावना तथा उत्तरदायित्व के प्रति सजग होना है। अतः शिक्षा का चरम लक्ष्य मनुष्यों के बीच वैसी आदत को डालना है जिसके माध्यम से वह अपने सुसंस्कृत जीवन को प्रोन्नत कर पाता है। अतः राय का समाज दर्शन मानव जीवन की मौलिक मान्यताओं पर आधारित है जिसका सार वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं शिक्षा में निहित है। ऐसे समाज दर्शन को आदर्श समाज दर्शन की संज्ञा दी जाती है।

अतः एम० एन० राय के समस्त विचार उग्र सुधारवादी हैं। इनका केन्द्र-स्थल मानव पुरुष है। ऐसे विचारों के द्वारा ही समृद्ध, स्वच्छ एवं अपनाने योग्य जीवन दर्शन का निर्माण सम्भव है। अतः राय वैसे समस्त विचारों का घोर विरोध करते हैं जो मनुष्य के घुटन का कारण है तथा वैयक्तिक सत्ता के जीवन केन्द्र में कुठां या संत्रास उत्पन्न करता है। इस प्रकार राय का दर्शन ज्ञानमीमांसा, तत्व-मीमांसा, आचारशास्त्र एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में उग्र सुधारवादी मानववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे दर्शन को विश्व दर्शन का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है जो परम्परावादी दर्शन की महत्वपूर्ण मान्यताओं को आमूल परिवर्तित एवं परिस्कृत रुप में स्वीकार करता है। इससे यह सिद्ध हो पाता है कि राय न केवल एक सफल राजनैतिक चिंतक हैं, बल्कि एक सफल दार्शनिक भी हैं। इनका रेडिकल ह्यूमेनिजम न केवल एक राजनैतिक चिंतन धारा है बल्कि सफल एवं समृद्ध दार्शनिक विचारों की समस्त विधाओं से भी परिपूर्ण है। इनका रुप वास्तववादी एवं फलवादी है जहाँ वैज्ञानिकता का सर्वत्र पुट है। ऐसे दर्शन जहाँ एक ओर मानव कल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं, वहाँ दूसरी ओर इसकी वैज्ञानिकता भी अक्षुण्ण है। अनुभव एवं बुद्धि के सफल वैज्ञानिक प्रयोग पर आधारित राय का ऐसा दर्शन नववैज्ञानिक दर्शन है।

अध्याय 1

एम० एन० राय के चिन्तन की पृष्ठभूमि

मानवेन्द्र नाथ राय की जन्म-तिथि बहुत हद तक विवादास्पद ही है। एक स्रोत के अनुसार इनका जन्म बंगाली वर्ष 1293 (86-87 ए० डी०) को आठ चैत्र को माना गया है जिसे 6 फरवरी 1893 के करीब स्वीकारा गया है।[1] दूसरी तिथि 1887 ई० है।[2] जो कुछ भी हो दोनों ही विचारों में उद्धृत वर्षों में मात्र लगभग छः वर्षों का अन्तर है। अतः इनके विवाद में न जाकर यह माना जाना सर्वथा उचित है कि एम० एन० राय उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थांस में जन्मे थे तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक वे अपने सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों से देश-विदेश की विचार-धाराओं को प्रभावित करते रहें। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर यह अनिवार्य है कि राय के दार्शनिक विचारों को समझने के लिये उनकी पूर्व पीठिका को समझा जाय। इस प्रकार राय के विचार वैसे अनेकानेक सशक्त कारकों की देन हैं जिन्हें सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा धार्मिक कारकों के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत की धरती पर प्रस्फुटित होते हुये देखा जा सकता है।

भारतीय जीवन धारा के दृष्टिकोण से तत्कालीन स्थिति को राष्ट्रीय धारा का अविकसित रूप कहा जा सकता है। इसे ही कुछ लोगों ने भारतीय पुनर्जागरण की संज्ञा दी है। ऐसे पुनर्जागरण को बिना देन के स्वीकारा नहीं जा सकता। वस्तुतः यह तो भारतीय विद्वानों, इतिहासकारों, सन्तों, दार्शनिकों, सामाजिक एवं राजनैतिक सुधारवादियों एवं राजनैतिक धाराओं का प्रतिफलित रुप है। इनके बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना न तो सम्भव है और न समीचीन ही। एम. जी. रानाडे, बी. जी. तिलक, बी. सी. पाल, श्री अरबिन्द तथा अन्य विवेचकों ने ऐसे राष्ट्रीय चेतना के उत्थान में अपना सफल योगदान दिया है। इतना ही नहीं महाराष्ट्र तथा उत्तर पूर्वीय भारत के सन्तों एवं भविष्यवक्ताओं ने भी तत्कालीन यथास्थितिवाद के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया है। कबीर, रामानन्द, तुलसी, सूर आदि को आध्यात्मिक जागरण को मूर्त रुप देने का श्रेय प्राप्त है। राजा राम मोहन राय जैसे समाज सुधारक ने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अपनी ठोस आवाजें उठाई जिसके फलस्वरुप

हिन्दू धर्म को समाप्त करने वाले बाल-विवाह, सती प्रथा, मूर्तिपूजा एवं अन्य सुधार-वादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ।

ऐसे विचारों को पुनर्जागरण के रूप में उपस्थित करने का श्रेय ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी तथा रामकृष्ण मिशन को भी है। ब्रह्म समाज की स्थापना राजा राम मोहन राय ने की जिसका उदेश्य धर्मों के बीच विरोध स्थापित न करना था बल्कि अपनी प्राचीन संस्कृति एवं परम्परा के आधार पर धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करना था। यदि ब्रह्म समाज की मान्यताओं का विवेचन किया जाय तो यह देखा जा सकता है कि इसने तत्कालीन समाज में न केवल सुधार लाने का प्रयास किया है बल्कि धार्मिक नेतृत्व कर तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वासों से भी तत्कालीन विचारों को मुक्त किया है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुये ब्रह्म समाज के प्रवर्तक राजा राम मोहन राय को नये युग का अग्रदूत माना गया है।[3]

ब्रह्म समाज की तरह आर्य समाज कुछ बुद्धिजीवियों का ही विचार बना नहीं रहा बल्कि इसका प्रचार एवं प्रसार जन जीवन में बहुत अधिक हुआ। आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती वैदिक धर्म के समर्थक थे। एकेश्वरवादी होने के बावजूद इन्होंने मूर्ति पूजा, जाति प्रथा तथा पशुओं की बलि दिये जाने जैसे विचारों का घोर विरोध किया है। अत: धर्म के रुप में आर्य समाज न केवल ईश्वर, आत्मा एवं जड़ तत्व की सत्ता में विश्वास करते हैं बल्कि इनका विश्वास कर्म सिद्धान्त में भी है। इसे न केवल धार्मिक विचारधारा का रूप माना जा सकता है बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विचारधारा के रुप में प्रतिष्ठित है। इसी दृष्टि से आर्य समाज को परम्परावादी हिन्दू आदर्शो के साथ-साथ राष्ट्र-वाद, उपयोगितावाद तथा बुद्धिवाद का विलक्षण संगम माना गया है।[4] वस्तुतः आर्य समाज का उदेश्य दलित समाज का उत्थान करना था तथा ऐसे ही उदेश्य से ऐसे विचार को संचालित देखा जा सकता है।

थियोसॉफिकल सोसायटी के संस्थापक एनीबेसेन्ट को माना जाता है। ऐसे बिचार में हिन्दू आदर्शों का पुनरुत्थान देखने को मिलते हैं। इनके अनुसार कोई भी देश अपने को दासता से मुक्त तभी कर सकता है जब वह अपने में निहित संभाव-नाओं को मूर्त रुप दे सके, अपनी परम्पराओं को फिर से जागृत कर सके।

राम कृष्ण मिशन की स्थापना राम कृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेका-नन्द के द्वारा की गई है। राम कृष्ण परमहंस आलोकिक शक्तियों से पूर्ण थे। इन्होंने अपने गुणों द्वारा विवेकानन्द को अभिभूत किया था। अतः विवेकानन्द ने

सभी धर्मों के बीच निहित मौलिक एकत्व की स्थापना के लिये ऐसे मिशन की स्थापना की थी। इनका यह विश्वास था कि सभी धर्म शाश्वत धर्म[5] के ही अंग हैं। ऐसे मिशन की स्थापना इन्होंने 1897 ई० में की जिसके द्वारा इन्होंने अपने समर्थकों को सामाजिक एवं मानवतावादी कार्यों को प्रोन्नत करने के लिये शिक्षा दी। अन्य समाज सुधारकवादी संस्थाओं की तरह रामकृष्ण मिशन भी एक संस्था है जिसका उदेश्य हिन्दू धर्म की संकीर्णताओं को दूर कर उन्हें अद्यः पतन की ओर जाने से बचाना है। विवेकानन्द का यह उदेश्य था कि पाश्चात्य जगत में भी जो अच्छाईयाँ हो उन्हें ग्रहण किया जाना चाहिये।

अछूत आन्दोलन को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न करने में इन्हें महात्मा गाँधी का पूरोगामी कहा जा सकता है। अछूत प्रथा के संकीर्णताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए इन्होंने लिखा भी है कि यदि कोई भंगी आकर अपने को भंगी होने की बात करता है तो लोग उनसे डर कर भाग खड़े होते हैं, किन्तु वैसे ही भंगी को कोई पादरी मन्त्र पढ़कर जल छिड़क देता है तो लोग, उसे अपने कमरे में आमन्त्रित करते हैं।[6] इससे यह पता चलता है कि किस प्रकार अछूतोद्धार की ओर वे उन्मुख थे। विवेकानन्द ने भारतीय युवकों को साहस के द्वारा प्रगति के पथ पर अग्रसर होने की राय दी है तथा सत्य और मानवता का मसीहा बनने को कहा है।

ये पूरोहित प्रथा के घोर विरोधी हैं क्योंकि इनके अनुसार ऐसे लोगों ने जन-समुदाय के अज्ञान का लाभ उठाया है, समाज का शोषण किया है तथा ऐसे लोग प्रगति के पथ के बाधक हैं। दरिद्र नारायणों के महत्व को स्वीकार करते हुये इन्होंने अपने अभिभाषण जिसे इन्होंने 'पार्लियामेन्ट ऑफ रीलीजन्स' में दिया था, में कहा है कि पूर्वीय क्षेत्रों में धर्म की कमी नहीं है किन्तु रोटी का अभाव है। वे रोटी की माँग करते हैं किन्तु उन्हें हम धर्म देकर उन्हें प्रस्तर दे रहे हैं। यह भूखे मनुष्यों का अपमान है।[7] इस प्रकार विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के पुनर्जागरण के लिये, उनके विकास के लिये तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये रामकृष्ण मिशन जैसी संस्था की स्थापना की थी जो आज भी सामाजिक, धार्मिक कार्यों में रत है तथा जिनका उदेश्य जन-जीवन में नई-स्फूर्त्ति भरना है, नये विचारों को प्रोन्नत करना है।

राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में और भी कई महत्वपूर्ण संस्थाओं की अहम भूमिका है जिनमें द डेकन सोसायटी, द सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी तथा सोशल सर्भिस लीग का स्थान है। ऐसी संस्थायें वस्तुतः सामाजिक, धार्मिक, तथा सांस्कृतिक

संस्थाओं के प्रतिरुप हैं जिनका उदेश्य तात्कालीन भारतीय जीवन में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करना था।

जिन सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा मानवतावादी संस्थाओं की चर्चा उपर की गई है इनके अतिरिक्त तात्कालीन राजनैतिक विचारधाराओं का भी बड़ा महत्व है क्योंकि इनके फलस्वरुप भी भारतीय राष्ट्रीय चेतना को प्रश्रय मिल सका है। 1857 में हुये सिपाही विद्रोह वस्तुत: राजनैतिक धारा की सशक्त धारा का परिचायक है। इसी के बाद 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस की भी स्थापना हुई थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कार्य क्षेत्र बंगाल से प्रारम्भ हुये थे। फलस्वरुप बंगाली युवकों को अंग्रेजी शिक्षा का प्रथम लाभ मिला था तथा कम्पनी की नौकरी में जाने का भी उन्हें ही श्रेय प्राप्त हुआ था किन्तु यह श्रेय शीघ्र ही विखंडित हो जाने की स्थिति में आ गया क्योंकि बंगालियों को यह एहसास हुआ था कि भविष्य की सुरक्षा इससे संभव नहीं है। यह एहसास वस्तुत: राजनैतिक चेतना के एहसास का बोधक है जिसे लाला लाजपत राय ने "फर्स्ट आई ओपनर"[8] की संज्ञा दी है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तात्कालीन लोगों के बीच असहाय होने की स्थिति से ही राष्ट्रीय चेतना के ज्वलन्त होने की शुरुआत देखी जा सकती है। यहीं से उन्मुक्त रूप में चिन्तन करने, उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाने की दूर दृष्टि का भी परिचय मिलता है। ऐसे विचारों को कुछ हद तक ब्रिटिश शिक्षकों, प्रोफेसरों, एवं असैनिक सेवकों की देन माना जा सकता है। इतना ही नहीं भारत के लोग अंग्रेजी राज्य के प्रभाव से यह महसूस करने लगे थे कि इसाई मिशनों का प्रभाव उनके धर्म एवं विचारों को समाप्त करने में जारी है जहाँ उनकी संस्कृति एवं परम्परा को समाप्त करने का प्रयास भी देखा जा सकता है। राजा राम मोहन राय जैसे सुधारवादी चिन्तकों ने अंग्रेजी राज्य के प्रभाव से उत्पन्न कुरीतियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया था। अत: देशभक्ति की भावना भारतियों के दिल में ही दबी जा रही थी या कहा जाय कि उन्हें कुचला जा रहा था। वे बेबसी, कुंठा एवं चिन्ताग्रस्तता की स्थिति में थे। ऐसी ही स्थिति में ह्यूम, ऑलकोट, वेसेन्ट जैसे विदेशी साधकों के सद्भाव को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस की स्थापना में सफल योगदान देकर स्वतंत्रता प्राप्ति के मन्त्र को भारतीयों के बीच फूँका था।

स्वतंत्रता संग्राम की ओर उन्मुख भारतीय जन-जीवन में बंगालियों का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बंगाल के विभाजन के साथ इनके बीच

और भी अधिक राष्ट्रीय चेतना का जागरण हुआ। कलकत्ता के गलियों में बन्दे-मातरम के स्वर गुँजने लगे थे तथा इसके पूज्यपाद बंकिम चन्द्र चटर्जी, एम० एन० बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, पण्डित मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, दादा भाई नौरोजी, बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल जैसे चिन्तकों ने राष्ट्रीय चिन्तन धारा को नई मोड़ दी थी। इस प्रकार एक ओर जहाँ सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल देखने को मिलते थे वहाँ दूसरी ओर चरमपन्थ का भी जन्म राजनैतिक संस्था के रूप में हो चुका था। जहाँ एक ओर महात्मा गाँधी जैसे लोगों ने प्रार्थना के माध्यम से विरोध प्रकट किया था वहाँ दूसरी ओर अतिवादी अहिंसक मार्गो को अपनाने में ग्लानि की अनुभूति करते थे। ऐसे लोग काँग्रेस के विनम्रतावादी प्रवृति से असंतुष्ट थे। लोकमान्य तिलक ऐसे अतिवाद के जन्मदाता माने जा सकते हैं। ऐसी धारा को आगे बढ़ाने में वीर सावरकर, हरदयाल एवं बरी न आदि का नाम लिया जा सकता है। पुलिन बिहारी दास द्वारा स्थापित अनुशीलन समिति ने ऐसे विचार को और अधिक मूर्त रूप दिया था। एम० एन० राय इस समिति के एक महत्वपूर्ण सदस्य थे। अतः स्पष्ट है कि एम० एन० राय के जीवन को प्रभावित करने में तत्कालीन सुधारवादी धारायें थीं, जिन्हें हम सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक उथल-पुथल की संज्ञा दे सकते हैं। ऐसी धाराओं का उदेश्य वस्तुतः स्वतंत्रता को प्रोन्नत करने में संलग्न चेतना का उद्भव तथा विकास करना था, जन-जीवन में वैसे सामाजिक विचारों को प्रस्थापित करना था जिनके फलस्वरूप सभी प्रकार के उत्थान संभव हो सकें तथा सह आदर्श एवं प्रयोजन की प्राप्ति हो सके।

पूर्व के पृष्ठों में यह स्पष्ट किया गया है कि एम० एन० राय के विचार भारतीय राष्ट्रीय जागरण की पूर्व पीठिका की देन हैं। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता कि नये-नये विचारों के संसर्ग में आने तथा जीवन के नये आयामों के खुल जाने से व्यक्ति के विचार एवं व्यक्तित्व में परिवर्तन होते रहते हैं। एम० एन० राय इस विचार के अपवाद नहीं हैं। अपने आरम्भिक जीवन में भारतीय आध्यात्मवाद से वे बड़े ही प्रभावित थे किन्तु जब विदेशों में वे निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहे थे तो उनके चिन्तन की प्रक्रिया में भी आमुल परिवर्तन आ जाना स्वाभाविक ही था क्योंकि विदेशों में निवास के कारण नये-नये पाश्चात्य विचारों के साथ उनका समागम हुआ था। ऐसे विचारों में मार्क्सवाद को मुख्य रूप से उपस्थित किया जा सकता है।

जैसा कि सर्वविदित है कि मार्क्सवाद का केन्द्र स्थल मानवोद्धार है, मानव स्वतंत्रता को प्रश्रय देना है तथा सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को परिवर्तित कर देने का सफल प्रयास है। चूँकि एम० एन० राय के हृदय भी मातृभूमि के स्वतंत्रता से ओतप्रोत थे, इसलिए मार्क्सवाद के प्रति विस्तृत झुकाव होना इनके लिए सर्वथा स्वाभाविक ही था। अनुशीलन समिति के एक सक्रिय सदस्य होने के कारण इनकी आस्था मूलतः आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत कर राष्ट्रीय चेतना को जगाना था फलस्वरूप वे बंकिम चन्द्र चटर्जी द्वारा बन्दे मातरम जैसे गीत से पूर्णतः प्रभावित थे। किन्तु विदेशों में रहकर इन्होंने मार्क्स का अध्ययन किया तथा मार्क्स की व्याख्या से पूर्णतः प्रभावित हुए। यहाँ तक कि इन्होंने बाद के अपने सारे विचारों की मार्क्सवादी व्याख्या ही प्रस्तुत की। यह उत्स इनका तब तक बना रहा जब तक इन्होंने मार्क्सवाद के खोखलेपन को समझा तथा अपने उग्र सुधारवादी मानवतावाद का प्रणयन किया। भारतीय चिन्तन धारा को सामाजिक चेतना एवं आर्थिक दशा का इनके द्वारा परिणाम माना जाना मार्क्सवाद के प्रभाव का ही परिचायक है। इन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि सामाजिक प्रगति की आकृति मार्क्स एवं एंगेल्स द्वारा बतलाये गये मार्गो द्वारा ही सम्भव है। जो भी सामाजिक रीति-रिवाज हैं, जो भी सामाजिक संस्थायें हैं वे सभी भौतिक उत्पादन के प्रकार की देन हैं। ऐसी स्थिति में इन्होंने भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष के पीछे भी भौतिक अनीवार्यता का भाव देखा है।[9]

अपने इस जीवन काल में वे कार्क्सवाद से इतने अधिक प्रभावित हुए कि इन्होंने आध्यात्मवाद की आलोचना प्रारम्भ कर दी तथा माना कि भारतीय नेताओं ने आध्यात्मिक आदर्शों को अपने काल्पनिक दृष्टि से ढूँढ़ निकाला था जबकि आवश्यकता थी भौतिक शक्तियों को विकसित करने का ताकि संघर्ष में सफलता की संभावना का मार्ग प्रशस्त हो सके। इस दृष्टि से वे आध्यात्मवाद के बहुत ही कट्टर आलोचक बनें तथा इन्होंने इसे प्रति क्रियावादी दर्शन की संज्ञा दी।[10] इस प्रकार राय के विचार में मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।

राय रूसी क्रान्ति के प्रभाव से भी वंचित नहीं रह सके। 1917 के अक्टूबर में रूस में हुई क्रांति के फलस्वरूप साम्यवाद का आधिपत्य रूस पर स्थापित हो गया था जिसके फलस्वरूप पुरानी सामाजिक व्यवस्था को समाप्त कर नए सामाजिक भविष्य की परिकल्पना की गई थी, वैसे भविष्य की जिसका आधार शान्ति, समानता एवं न्याय माना गया था। सम्पूर्ण जगत में इससे आशा का संचार हुआ था एवं स्वतंत्रता का क्षितिज प्रस्फुटित हो रहा था। ऐसी क्रांति के प्रमुख नेता लेनिन ने

संघर्षरत मानव समुदाय से अपील की थी कि उपनिवेशवाद समाप्त हो तथा स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की विजय हो। राय ने अपनी युवा अवस्था में ऐसे विचार धारा को अंगीकार किया था। ब्रिटिश उदारतावाद में उनका विश्वास हट गया था तथा मार्क्सवादी साधनों में विश्वास के साथ वे शोषण एवं दबाव की व्यवस्था को वे समाप्त करना चाहते थे।

रुसी क्रान्ति के प्रभाव से भारतीय राष्ट्रीय विचारधारा भी वंचित नहीं रह सका था। महात्मा गाँधी के पूर्व यह विचारधारा अति उदार थी और न तो इनका कोई सामाजिक कार्य-क्रम था और न आर्थिक उद्देश्य ही। गाँधी ने जन आन्दोलन द्वारा, असह्योग द्वारा, असैनिक भावना द्वारा सर्वप्रथम ऐसी स्वतंत्रता की प्राप्ति का उद्देश्य भारतीय जन समूह के समक्ष रखा था। इसे वस्तुतः अक्टूबर क्रान्ति का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है। राय भी इसके प्रभाव से बंचित नहीं थे।

राय के मार्क्सवादी विश्वास धीरे-धीरे विकसित हो रहे थे,सुदृढ़ हो रहे थे। इसी क्रम में वे लेनिन से मिलने रुस गए तथा इनके प्रभाव के फलस्वरुप वे और भी दृढ़ मार्क्स-वादी के रूप में उभर सके। इन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद[11] की दृष्टि से भारतीय जन-जीवन में व्याप्त समस्याओं का विश्लेषण किया तथा उनके समाधान का भी सफल प्रयास किया। राय ने राष्ट्रीय जागरण की मुख्य विशेषताओं जिनका प्रचलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ हुई का घोर खंडन किया तथा माना कि राजनैतिक स्वतंत्रता आर्थिक स्वतंत्रता एवं सामाजिक मुक्ति की प्रथम शर्तों में से है।[12] ऐसे विचार के पीछे उन्होंने सामाजिक प्रगति का भाव देखा, सामाजिक प्रगति की नयी दृष्टि देखी। यदि ऐसे सामाजिक जड़ता से मुक्ति हो सके तो वास्तविक स्वतंत्रता को शांति मिल सकेगी। अतः इन्होंने भारत के आन्दोलन को सामाजिक प्रगति के उत्स की अभिव्यक्ति माना।[13] राय का ऐसा विश्वास जम गया था कि भारत अपनी स्वतंत्रता के लिये या विदेशी सत्ता से अपनी राजनैतिक मुक्ति के लिए न केवल संघर्ष कर रहा है बल्कि वह अपने को मानव प्रगति के राह पर उतार रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय मार्क्स की तरह ही राजनैतिक स्वतंत्रता के रीढ़ की तरह आर्थिक एवं सामाजिक मुक्ति को स्वीकारते हैं।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रभाव में आकर राय ने आध्यात्मवाद का खंडन किया है तथा बतलाया है कि ऐसी धार्मिक भावना का महत्व भूतकाल

के लिए ही है। इनकी समाप्ति पाश्चात्य जगत में पूँजीवाद के विकास के साथ हो चुका है किन्तु मध्य युग का यह विचार भारत में आज भी जीवित है। अतः आध्यात्मवाद को पुनः जाग्रत करना भारतीय नेताओं का प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है। ऐसे दृष्टिकोण के जड़ में राय ने उपनिवेशवाद को माना है तथा स्वीकारा है कि विदेशी शासन से आर्थिक शक्तियों के विकास में बाधा पहुँचती है तथा सामाजिक बन्धनों को, अन्धविश्वास को प्रश्रय मिलता है। इस प्रकार एक सच्चे मार्क्सवादी के नाते वे ऐसे विचार को समाप्त करने की उत्कट अभिलाषा रखते हैं।

राय के अनुसार आध्यात्मिक सभ्यता में अपने को भुला देना तथा ऐतिहासिक तथ्यों को नहीं स्वीकारना प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण का बोधक है। इस दृष्टि से वे तिलक के समग्रवादी राष्ट्रवाद को रानाडे के सामाजिक उग्रसुधारवाद की अपेक्षा हीन मानते हैं।[14] इतना ही नहीं वे विवेकानन्द के विचार को 'अध्यात्मिक साम्राज्यवाद' की संज्ञा देते हैं।[15]

इस संदर्भ में राय महात्मा गाँधी की भी आलोचना करते हैं। इनकी यह मान्यता है कि किसी भी राष्ट्र के भविष्य के निर्धारण में आर्थिक कारकों का अत्यधिक महत्व है। इन कारकों के समर्थन के कारण ही राय को पक्का मार्क्सवादी कहा जा सकता है।

राय यह मानते हैं कि भारत में पूँजीवादी व्यवस्था का विकास हो रहा है तथा वर्ग संघर्ष को बढ़ावा मिल रहा है। इससे आर्थिक बाध्यता को बढ़ाबा मिलता है। यही कारण है कि राय राजनैतिक आन्दोलन की अनिवार्यता आर्थिक लंगड़ेपन को समाप्त करने के लिए अनिवार्य मानते हैं। अतः स्पष्ट है कि राय के अनुसार मार्क्सवाद ही राष्ट्रीय जागरण को चरम परिणति पर पहुँचाने का एक मात्र रास्ता है। इनका यह दृढ़ विश्वास है कि बिना आर्थिक स्वतंत्रता के भारत कभी भी वास्तविक राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता।

अतः मार्क्सवाद एवं अक्टूबर क्रान्ति का प्रभाव राय के जीवन दर्शन पर स्पष्ट देखने को मिलते हैं।

राय के दर्शन के सफल अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राय ने भारतीय दर्शन के गहन पक्षों का अध्ययन किया है। इनकी पुस्तक **'मैटेरेयलिज्म'** ऐसे अध्ययन का प्रतिफलित रूप है। इन्होंने वेदों, उपनिषदों, वैशेषिक, सांख्य तथा बौद्ध दर्शनों में भौतिकवाद की उत्पत्ति एवं विकास की परम्परा का उत्स देखा है। इनके अनुसार चार्वाक के भौतिकवाद भी इस तथ्य के साक्षी हैं कि भारतीय परम्परा

में भौतिकवाद की अवहेलना नहीं है। इन्होंने सन्यास के सम्प्रदाय, पुनर्जन्म के विचार, आत्मा के अस्तित्व में विश्वास की उत्पत्ति, रहस्यवादी अनुभूति का विशद विश्लेषण किया है तथा यह दिखलाया है कि इनके जड़ में भौतिकवाद है। यदि ऐसे विचारों में भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं तो यह मनोरोगात्मक है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राय ने मार्क्स के भौतिकवादी विचारों में अपनी आस्था प्रकट करते हुये भारतीय विचारधारा में भी भौतिकवादी विचारों का भाव देखा है। इससे राय के जीवन पर मार्क्सवादी भौतिकवाद के प्रभाव को आंका जा सकता है।

राय के विचार अवरूद्ध तालाब में निहित जल की तरह नहीं हैं बल्कि इनकी चिन्तन धारा निर्मल स्वच्छ चिन्तन धारा है जो सतत प्रवहशील दिखाई देते हैं। स्वभावतः इनके जीवन के अंतिम चरण में इनकी आस्था मार्क्सवाद में भी नहीं रह सकी है तथा इन्होंने मार्क्सवाद की त्रुटियों को भी ढूँढ़ निकाला है। राय के उक्तियों से यह स्पष्ट है कि वे मार्क्सवाद को केवल सफल दर्शन का मार्ग दर्शक मानते हैं। इन्होंने मार्क्सवाद का विवेचन तत्कालीन समय की अनुभूति के परिप्रेक्ष्य में किया है तथा बतलाया है कि मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के बीच भेद है। प्रथम दर्शन है तो दूसरा राजनैतिक क्रिया। वैसी राजनैतिक क्रिया जिसके द्वारा एक लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।[16] अतः राय सच्चे मार्क्सवादी का मार्ग-दर्शक अनुभूति को मानते हैं। सोवियत संघ के साम्यवादी पार्टी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ये बतलाते हैं कि उनका भी प्रयास न तो बौद्धिक है और न सच्चा ही। अतः यह संशय उत्पन्न हो जाता है कि क्या साम्यवाद सच्चे स्वतंत्रता की ओर ले जा सकता है। राय आर्थिक बाध्यता, वर्ग संघर्ष बचत मूल्य जैसे विचारों का विवेचन करते हुए यह दिखलाते हैं कि मार्क्स के विचारों में भी सैद्धांतिक त्रुटियाँ हैं। यही बात मार्क्स के अन्य बिचारों में भी है। अतः वे अपने उग्र सुधारवादी मानवतावाद के विचार का प्रणयन करते हैं तथा मानते हैं कि इसके द्वारा मार्क्सवाद को अवनति के मार्ग से बचाया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राय के विचार भारतीय पुनर्जागरण के क्रम में उद्भूत विचारधाराओं, मार्क्सवाद एवं अक्टूबर क्रान्ति के प्रभावों तथा उनकी आलोचनाओं के प्रतिफलित रूप है। सत्य तो यह है कि राय, चाहे वह भारतीय विचारधारा हो या पाश्चात्य उन्हें बिना समीक्षा किये वे स्वीकारना नहीं चाहते। एक सच्चे मार्क्सवादी की तरह वे जीवन एवं जगत की व्याख्या करना नहीं चाहते बल्कि उनमें परिवर्तन लाना चाहते हैं। ऐसा उग्र विचार उनके ज्ञानमीमांसीय, उनके तत्वमीमांसीय, उनके आचारशास्त्रीय एवं उनके समाज-

शास्त्रीय विचारों में सर्वत्र देखने को मिलते हैं। ऐसे विचारों को पुस्तक के आगे के अध्यायों में स्पष्टतः देखा जा सकता है।

संदर्भ-सूची

1. डॉ० विष्णुदेव नारायण ओझा ने अपनी पुस्तक-एम० एन० राय ऐन्ड हिज फिलॉसाफिकल आइडियाज में 7 फरवरी 1954 के दी रैडिकल ह्यूमनिस्ट नामक पत्रिका का प्रसंग निर्देश करते हुए स्वीकारा है।
2. इसका उल्लेख डॉ० देवराज बाली ने अपनी पुस्तक मॉडर्न इंडियन थॉट में किया है, किन्तु ऐसे वर्ष में जन्म लेने का कोई प्रमाण इन्होंने उपस्थित नहीं किया।
3. एन० मैकनिकॉल, दी मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया, पृ० 172.
4. एच० सी० ई० जकारिया, रेनासेन्ट इंडिया, पृ० 37.
5. कम्पलीट वर्क्स ऑफ विवेकानन्द, खण्ड-4, पृ० 480.
6. वही, खण्ड-5, पृ०-2.
7. वही, पृ०-13
8. यंग इंडिया, पृ०-110
9. एम० एन० राय एण्ड एवेलिन राय, वन इयर ऑफ नानकॉपरेसन, पृ०-2.
10. वहीं, पृ०-7
11. एम० एन० राय, इंडिया इन ट्रांजिसन, पृ०-12
12. एम० एन० राय, ह्वाट डू वी वान्ट ? पृ०-11
13. एम० एन० राय, इंडियाज प्राब्लेम ऐण्ड इट्स सॉल्यूसन, पृ०-4
14. एम० एन० राय, इंडिया इन ट्रांजिसन, पृ०-182
15. वहीं, पृ०-186,
16. एम० एन० राय, न्यू ओरियेन्टेसन, पृ०-63.

अध्याय 2

एम० एन० राय के ज्ञानमीमांसीय विचार

समग्र विश्व का उसकी मौलिक वास्तविकता में ज्ञान प्राप्त करना, दर्शन का प्रमुख विषय है। ज्ञान क्या है ? ज्ञान के साधन क्या हैं ? ज्ञान में ज्ञाता तथा ज्ञेय के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध हैं ? और ज्ञान की सत्यता-असत्यता कैसे निर्धारित किये जाते हैं ? जैसे प्रश्न ही ज्ञानमीमांसा के केन्द्रीय प्रश्नों में से हैं। इसी अर्थ में कहा गया है कि ज्ञानमीमांसा दर्शन की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध ज्ञान के स्वरूप एवं विषय, इनके आधार एवं मान्यताओं, तथा ज्ञान के दावों के सामान्य विश्वसनीयता से है।[1] ऐसे विचार से ही पाश्चात्य एवं भारतीय ज्ञानमीमांसा अभिभूत होते हुये दिखाई देते हैं।

ज्ञान के साधन के प्रश्न को लेकर पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवाद, अनुभववाद एवं समीक्षावाद जैसे सिद्धान्त प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार बुद्धि ही ज्ञान के स्रोत हैं तथा बुद्धि द्वारा उत्पन्न ज्ञान ही सार्वभौम तथा अनिवार्य होते हैं। ये ऐसे ज्ञान को निगमनात्मक मानते हैं। इनसे भिन्न अनुभववाद ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से मानते हैं तथा आगमनात्मक तर्क-विधि के महत्व को स्वीकार करते हुए वास्तविक ज्ञान के स्वरुप को नित-नूतन होना मानते हैं। समीक्षावाद इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करते हैं तथा ज्ञान की उत्पत्ति में बुद्धि एवं अनुभव दोनों के महत्व को स्वीकारते हैं। इनके अनुसार ज्ञान की विधि निगमनात्मक तथा आगमनात्मक दोनो है। ज्ञान के स्वरुप की व्याख्या के क्रम में ये ज्ञान के स्वरूप को सार्वभौम, अनिवार्य तथा नवीन बतलाते हैं। ऐसे ज्ञान को समीक्षावादी विचारक कान्ट संश्लेषणात्मक, प्रागानुभविक निर्णयों के एक तन्त्र के रूप में स्वीकारते हैं।

जहाँ तक ज्ञाता एवं ज्ञेय के सम्बन्ध को लेकर पाश्चात्य दर्शन में विचार हैं उनमें प्रमुख रूप से प्रत्ययवाद तथा बास्तववाद का नाम लिया जा सकता है। प्रत्ययवाद ज्ञेय की स्थिति की व्याख्या के क्रम में यह मानता है कि ज्ञेय ज्ञाता के मन का प्रत्यय है जबकि बास्तववाद वस्तु की वास्तविकता स्वीकार करते हुये ज्ञेय को ज्ञाता के मन से स्वतंत्र मानता है। ऐसे ही विचार का परिवर्द्धित रूप, मूर एवं रसेल जैसे वास्तववादी ज्ञानमीमांसकों का इन्द्रिय-प्रदत्त सम्बन्धी विचार है। जहाँ

मूर ने सामान्य मत की रक्षा द्वारा अपने विचार की स्थापना अपने लेख **डिफेन्स ऑफ कॉमन सेन्स** में की है।

ज्ञान की सत्यता एवं असत्यता सम्बन्ध को लेकर पाश्चात्य दार्शनिक संसक्तता सिद्धान्त, संवादिता सिद्धान्त तथा व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। प्रथम के अनुसार सत्यता संसक्तता के बोधक हैं जिसका अर्थ संगति से है। ऐसी ही संगति आत्म संगति तथा परस्पर संगति द्वारा अभिव्यक्त है। इसके विपरीत असंगति या असंसक्तता के फलस्वरूप असत्यता का उद्भव होता है। संवादिता सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान की सत्यता-असत्यता तथ्य की वास्तविकता के साथ मेल अथवा संवाद से जुड़ा हुआ है। यदि ज्ञान वास्तविकता के साथ मेल खाता है तो सत्य है यदि मेल न ही खाता तो असत्य है। व्यावहारिकतावाद सत्य के सम्बन्ध में निरपेक्ष एवं शाश्वत धारणा को प्रश्रय नहीं देता तथा ज्ञान की सत्यता की कसौटी के रूप में व्यावहारिकता को मानता है।

प्रागानुभविक तथा अनुभवाश्रीत अवधारणाओं का विवेचन भी ज्ञान मीमांसा के परिक्षेत्र में आ जाता है। इसी भेद पर सत्यता का ज्ञान भी अधारित होता है। प्रागानुभविक कथन अनुभव के जाँच से मुक्त होता है। जिन विविध स्थितियों पर वह लागू होता है उन सबों की बिना छानबीन किये हम कह सकते हैं कि वह हर जगह के लिए और हमेशा के लिये सत्य है।[2] इनसे भिन्न अनुभवाश्रीत कथन होते हैं जो अनुभव पर आधारित होते हैं। ये प्रागनुभविक एवं अनुभवाश्रीत अवधारणायें प्रतिज्ञप्तियों एवं ज्ञान के संदर्भ में ही महत्व नहीं रखते बल्कि इनका सम्बन्ध सत्य से भी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारक ज्ञान के साधन, ज्ञान की स्थिति, ज्ञान की सत्यता एवं असत्यता तथा ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले अभिकथनों की चर्चा कर ज्ञान के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण एवं विवेचन करते हैं। इनके प्रावैधिक पहलूओं में विस्तारपूर्वक जाना समीवीन नहीं हैं क्योंकि इनके प्रसंग निर्देश ही एम० एन० राय की उग्र सुधारवादी मानवतावाद की ज्ञानमीमांसा को स्पष्ट करने में पृष्ठभूमि का काम करते हैं।

पाश्चात्य दर्शन की तरह ही भारतीय दर्शन में भी ज्ञान के विभिन्न पहलूओं पर विचार किया गया है तथा एक सुसंगठित ज्ञानमीमांसा का निर्माण किया गया है।

भारतीय ज्ञानमीमांसा में ज्ञान सम्बन्धी समस्त समस्यायें प्रमा तथा प्रमाण जैसे दो महत्वपूर्ण तथ्यों के इर्द-गिर्द सजे हुये देखे जा सकते हैं। प्रमा का अर्थ यथार्थ

ज्ञान है तथा प्रमाण का अर्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के साधन से है। यही कारण है कि भारतीय ज्ञानमीमांसा में प्रमा को अप्रमा से भेद करने के क्रम में मिथ्या ज्ञान का भी विवेचन किया जाता है। इस प्रकार प्रमाणों की सभी संभव संख्याओं का सूक्ष्म विवेचन करना भारतीय ज्ञानमीमांसा का लक्ष्य रहा है। इस अर्थ में भारतीय ज्ञान मीमांसा पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा की अपेक्षा अधिक व्यापक रही हैं। जहाँ भारतीय ज्ञानमीमांसा में सत्य की समस्या का समाधान पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की तरह ही किया गया है, पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में प्रमा के साधनों तथा मिथ्यानुभूति के स्वरूप के विवेचन की उपलब्धि नहीं के बराबर ही है।[3]

ज्ञान शब्द का प्रयोग विभिन्न भारतीय दर्शनों में बुद्धि, प्रत्यय, उपलब्धि इत्यादि अर्थों में किया गया है। इस अर्थ वैभिन्य को दूर करने के प्रयास के क्रम में न्याय सूत्र में इसे स्पष्ट करते हुये लिखा गया है—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञान मित्यन-थन्तिरम्।[4] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी अभिव्यक्तियाँ एकार्थक हैं। ज्ञान शब्द का प्रयोग व्यापक तथा संकुचित दोनों ही अर्थों में संभव है। व्यापक अर्थ में यह अपने अन्दर यथार्थ एवं अयथार्थ दोनों ही ज्ञानों को समेट लेता है संकुचित अर्थ में ज्ञान से केवल यथार्थ ज्ञान का बोध होता है सत्य तो यह है कि ज्ञान का अर्थ ज्ञान ही है जो स्वयं प्रकाश्य है—योग्यमर्थ प्रकाशः फलम[5] इसका समर्थन तर्क कौमुदी तथा तर्क संग्रह में भी उपलब्ध है। प्रथम में इसे बुद्धि द्वारा अर्थ प्रकाश माना गया है—अर्थ प्रकाशो बुद्धिः। इसी प्रकार तर्क संग्रह में ज्ञान को सभी व्यवहारों का कारण माना गया है—सर्वव्यवहार हेतुः ज्ञानं बुद्धिः इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ज्ञान वस्तु प्रकाशक तथा व्यवहार का आधार स्वरुप होता है।

ज्ञान के विषय में ज्ञान किस कोटि की सत्ता है? जैसे प्रश्न उठाये जाते हैं। इस प्रश्न के उत्तरस्वरुप भारतीय दर्शनों में जो भी विचार प्रकट किये गये हैं उन्हें चार मुख्य श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि के विचार में ज्ञान को गुण का तादात्म्य माना गया है। ऐसे विचार भी दो भागों में विभाजित दिखाई देते हैं। प्रथम के अनुसार ज्ञान को आगन्तुक गुण का रूप तथा दूसरे के अनुसार इसे अनिवार्य गुण का रूप स्वीकारा जा सकता है। प्रथम मत के समर्थक चार्वाक[6] दर्शन हैं, जबकि दूसरे विचार के पक्षधर न्याय[7] वैशेषिक तथा प्रभाकर मीमांसक को माना जा सकता है। रामानुज तथा जैन दर्शनों में ज्ञान को आत्मा का अनिवार्य गुण माना गया है जबकि भाट्ट मीमांसकों ने इसका विरोध किया है तथा ऐसे गुणों को गुण नहीं मानकर कार्य स्वीकारा है।

ज्ञान के सम्बन्ध में तीसरा मत सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त का है जहाँ ज्ञान को स्वयं द्रव्य की संज्ञा दी गई है क्योंकि इसे किसी अन्य अधिष्ठान को आवश्यकता नहीं होती। इस दृष्टि से वे गुण अथवा कर्म के रूप में ज्ञान के विचार को अस्वीकारते हैं। योगाचार दर्शन सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त के ही करीब है ज्ञान के सम्बन्ध में अंतिम मत शून्यवादियों का है क्योंकि शून्यता के माध्यम से ये ज्ञान की व्याख्या करते हैं।

भारतीय दर्शन में निर्विषय तथा सविषय जैसे ज्ञान के दो प्रकारों की चर्चा की गई है।[8] प्रथम प्रकार का ज्ञान द्वैत से परे होता है जबकि सविषय ज्ञान में विषय की वास्तविक अभिव्यक्ति (वस्तुवादी विचार) तथा विषय विशेष के ज्ञान होने का अर्थ ज्ञान का विषयाकार होना (विज्ञानवादी विचार) प्रचलित हैं। जो कुछ भी हो ज्ञान को प्रमा कहलाने के लिये उसे संशयरहित होना अनिवार्य है। किन्तु भारतीय विचारकों ने संशयपूर्ण ज्ञान का भी विवेचन किया है तथा उसे अप्रमा के अन्तर्गत रखा है।

इस प्रकार के प्रमा के स्वरूप वस्तुतः सामान्य तथा सरल प्रतीत होते हैं किन्तु इनका सम्यक विवेचन करने पर इसकी गम्भीरता एवं जटिलता सिद्ध होती है। प्रभाकर मीमांसा के अनुसार ज्ञान के विषय स्वतंत्र रूप से सत्तावान हैं तथा ज्ञान के द्वारा ही वे प्रकाशित हो पाते हैं। ऐसे विचार वस्तुवादी विचार हैं जहाँ भ्रम के विचार का कोई स्थान बच नहीं पाता है। इस प्रकार प्रभाकर मीमांसा के अनुसार सभी ज्ञान प्रमारूप ही हैं।[9] मीमांसा का दूसरा सम्प्रदाय भट्ट सम्प्रदाय है जो प्रभाकर सम्प्रदाय के विचार को दोषपूर्ण मानते हैं। इस सम्प्रदाय में प्रमा को अनुभूति रूप में परिभाषित करने की कटु आलोचना की गई है। इन दो सम्प्रदायों के मतवैभिन्य को देखते हुये ऐसा लगता है कि दोनों के विचार एकांगी हैं। अतः प्रमा की समस्या को ज्ञानमीमांसीय माने जाने के साथ-साथ व्यावहारिक माना जाना भी अभीष्ट है। एसे विचार का समर्थन बौद्धों एवं रामानुजाचार्य ने भी किया है। ऐसे ही प्रश्न से प्रामाण्यवाद का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है जहाँ यह माना गया है कि ज्ञान के उत्पन्न होने पर हमारा दृष्टिकोण उनके प्रति कैसा होना चाहिये? इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के अर्थ को स्पष्ट करना अनिवार्य है। प्रामाण्य के दो अर्थ लिये जा सकते हैं। प्रमाकरणत्व तथा प्रमात्व।[10] प्रथम अर्थ में यह उस साधन का गुण है जिससे प्रमा की प्राप्ति होती है। दूसरे अर्थ में यह प्रमाण का गुण न होकर स्वयं प्रमा का गुण इसे माना जाना चाहिये। ऐसे ही प्रश्न को लेकर स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः प्रामाण्यवाद जैसे सिद्धान्तों की चर्चा

भारतीय दर्शन में उपलब्ध है। जो दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्यीकरण किसी अन्य ज्ञान से नहीं हो सकता स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः होता है। इसके विपरीत परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार जब हमें कोई ज्ञान होता है तब हमें उसके प्रामाण्य के बारे में कोई निश्चय नहीं होता है बाद में अन्य ज्ञान के द्वारा इसके प्रामाण्य का ज्ञान प्राप्त होता है नैयायिकों ने परतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया है जब कि सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त स्वतः प्रामाण्यवाद का समर्थन करते हैं।

भारतीय ज्ञानमीमांसा में प्रमा के अंगों की चर्चा की गई है तथा इस सम्बन्ध में प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण का विशद विवेचन किया गया है। प्रमाता यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने वाले को कहते हैं। यथार्थ रूप से ज्ञात होने वाले विषय प्रमेय कहलाते हैं तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के साधन को प्रमाण कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस साधन द्वारा प्रमाता का प्रमेय से सम्बन्ध होता है उसे ही प्रमाण कहते हैं। इसी अर्थ में प्रमाण को प्रमा का कारण कहा गया है—प्रमायाः करणं प्रमाणम्। इसे वात्सायन ने भी स्पष्ट किया है—प्रमाता येनार्थम प्रमिनोति तत् प्रमाणम्। अर्थात् जिसके द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है उसे हम प्रमाण कहते हैं। प्रमा की व्याख्या में प्रमाण का सबसे अधिक महत्व है। यही प्रमा का रूप निर्धारित करता है।

पाश्चात्य दर्शन में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण माना गया हैं। किन्तु इस संदर्भ में भारतीय ज्ञान मीमांसकों का दृष्टिकोण अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म है। यहाँ चार्वाक एक ही प्रमाण मानते हैं और वह प्रत्यक्ष हैं। बौद्ध तथा वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो प्रमान मानते हैं। सांख्य दर्शन इनके अतिरिक्त शब्द को स्वीकारता है तथा न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द के अतिरिक्त उपमान को प्रमाण माना गया है। प्रभाकर मीमांसा इन चारों के अतिरिक्त अर्थापत्ति को पाँचवा प्रमान मानते हैं तथा भाट्ट मीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त में छठे प्रमाण अनुपलब्धि की भी स्वीकारोक्ति है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक से लेकर आठ तक प्रमाणों की संख्या भारतीय ज्ञान-मीमांसा के आलोच्य विषय रहे हैं। ये सभी भारतीय तर्क शास्त्र के अध्ययन के विषय हैं। जिन्हें व्यापक ज्ञान मीमांसीय परिवेशों में ही समझा जा सकता है। इन समस्त साधनों का उद्देश्य एक ही है और वह है विभिन्न भारतीय दार्शनिक पद्धतियों को एक दृष्टि प्रदान करना तथा उस दृष्टि को तार्किक अधार देना।

पाश्चात्य एवं भारतीय ज्ञानमीमांसा की संक्षिप्त पृष्ठभूमि में मानवेन्द्र नाथ राय की ज्ञान-मीमांसा का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

कोई भी सफल दार्शनिक पद्धति ज्ञानमीमांसीय आधार के बिना संभव नहीं है क्योंकि दृश्य जगत की स्थिति का विवेचन तथा दृश्य जगत का ज्ञान प्राप्त करने वाला अभिकरण दोनों का सम्बन्ध ज्ञान-मीमांसा से ही है। मानवेन्द्र नाथ राय के विचार इसके अपवाद नहीं हैं। इन्होंने अपने समस्त दार्शनिक विचारों, सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन धाराओं तथा अपनी समस्त सैद्धान्तिक मान्यताओं को ठोस ज्ञानमीमांसीय आधार पर आधारित किया है।

यदि कोई विवेचक या सुधी समीक्षक अपने दर्शन के प्रभावों को सिद्ध करना चाहता है तो ऐसी सिद्धि की कसौटी इसकी ज्ञानमीमांसा ही होगी। यही कारण है कि प्रत्येक दार्शनिक विचारों का आधार उसकी सशक्त ज्ञानमीमांसा हुआ करती है। मानवेन्द्र नाथ राय के भी समस्त दार्शनिक विचार ठोस ज्ञानमीमांसीय आधार पर आधारित हैं।

राय की ज्ञान मीमांसा के दो पक्ष हैं—निषेधात्मक एवं भावात्मक। प्रथम पक्ष में उन्होंने गलत ज्ञानमीमांसीय धारणाओं की समीक्षा की है तथा उन्हें खंडित किया है। भावात्मक पक्ष के क्रम में उन्होंने अपने विचार का ज्ञानमीमांसीय आधार ढूँढा है। सामान्यतया ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों के रूप में विश्व दर्शन में ज्ञान सापेक्षतावाद (सबजेक्टीभिज्म) तथा विषयनिष्ठवाद (आवजेक्टीभीज्म) के बीच भेद किया जाता रहा है। प्रथम अर्थात् ज्ञान सापेक्षतावाद के प्रभावी होने के कारण ज्ञान की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है तथा एक व्यक्ति का ज्ञान किसी वस्तु विशेष के सम्बन्ध में दूसरे व्यक्ति के ज्ञान से बदल जाता है। इसके फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अव्यवस्था आ जाती है। ग्रीक विचार-धारा में ऐसे विचार का प्रतिनिधित्व सॉफिस्टों तथा अरस्तु के बाद के ग्रीक दार्शनिकों के विचारों में देखा जा सकता है।[11] ऐसे ही विचार का समर्थन आधुनिक दर्शन में जॉर्ज बर्कले तथा बेनेडेट्टो क्रोचे के दर्शन में भी देखने को मिलते हैं। क्रोचे ने स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि सत्ता की सृष्टि मन द्वारा होती है।[12] बर्कले ने भी ज्ञान सापेक्षतावाद का समर्थन अपने प्रमुख कथन **एसे इस्ट परसीपी** में किया है। इससे यह स्पष्ट है कि चिन्तन-धारा में ज्ञान सापेक्षतावाद जैसी त्रुटिपूर्ण ज्ञानमीमांसा का भी विकास होता है। ऐसे ज्ञान-मीमांसीय विचार से भौतिक जगत की वस्तुनिष्ठता की आधार शिला तो कमजोर होती ही है साथ ही साथ मानव ज्ञान के क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता भी आ जाती हैं।

मानवेन्द्र नाथ राय ऐसे ज्ञान सापेक्षतावाद का घोर विरोध करते हैं तथा बतलाते हैं कि बर्कले एवं नव-प्लेटोवादी विचार-धारा को छोड़कर किसी भी विचार ने वाह्य जगत के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया है। वस्तुतः इनके संशय ऐसे भौतिक जगत के ज्ञान की प्रायिकता में निहित है। जैसा कि वे लिखते भी हैं, "कट्टर प्रत्ययवादी विचारकों को छोड़कर, या तो वे बर्कले या नव-प्लेटोवादी विचारधारा के समर्थक हों, कोई भी आधुनिक दार्शनिक तथाकथित वाह्य जगत के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते, इनका संशय इसके ज्ञान की संभावना के संशय में निहित होता है।'[13] राय के इस कथन के प्रथम पक्ष से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाह्य जगत की सत्ता को, इसकी यथास्थिति को अस्वीकार करना कठिन है। इससे और अधिक संकटपूर्ण स्थिति तो तब उत्पन्न होती है जब हम ज्ञान की संभावना में ही संशय व्यक्त करने लगते हैं। प्रत्ययवादी, अज्ञेयवादी तथा संशयवादी विचारकों द्वारा समर्थित ज्ञान के ऐसे पक्ष की चरम परिणति और भी खतरनाक सिद्ध होती है जहाँ भौतिक जगत के अस्तित्व का ज्ञान तो संकट की स्थिति में आ ही जाता है साथ-साथ ज्ञान की संभावना भी संदिग्ध हो जाती है। राय ऐसी स्थिति को ज्ञानमीमांसीय विवेचन में दुर्भाग्यपूर्ण एवं असंगत मानते हैं। इनके अनुसार यदि आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान की पृष्ठभूमि में इन्हें आंका जाय तो शायद ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण एवं दोषपूर्ण स्थिति की समाप्ति संभव हो सकती है। इससे ऐसा लगता है कि राय ज्ञानमीमांसीय समस्याओं के समाधान में अत्यन्त ही आशावादी दृष्टिकोण रखते हैं। इसका समर्थन इनके कथन से स्पष्ट है, "मनोविज्ञान के नवीनतम अनुसन्धानों द्वारा समर्थित आधुनिक भौतिक अनुसन्धान के फल हमें ज्ञान के ज्ञान के आनुभविक सिद्धान्त को अधःपतन की ओर ले जाने वाले ज्ञान सापेक्षतावाद के तर्क दोष एवं अस्पष्टता से मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं।"[14]

मानवेन्द्र नाथ राय का अखंड बिश्वास आधुनिक बुद्धिवाद, वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा भौतिकबाद में हैं। ये भौतिक जगत के वस्तु निष्ठ अस्तित्व में अखंड आस्था रखते हैं। अतः इनकी ज्ञान मीमांसा की सर्वप्रमुख समस्या वैसे ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त की स्थापना करना है जिनके फलस्वरुप भौतिक जगत की वस्तु निष्ठता की स्थापना को सशक्त आधार मिल सकें तथा ऐसी ज्ञानमीमांसा की स्थापना तब तक संभव नहीं हो सकती जब तक चिन्तन को ज्ञान सापेक्ष तावाद से मुक्ति न मिले। इसी प्रयास के, क्रम में वे वैसे सभी विचारों को खंडित करते हैं जिनसे ज्ञान सापेक्षतावाद को बल मिलता है। ऐसे ही विचारों में वे प्रत्यवादी ज्ञानमीमांसा का भी घोर विरोध करते हैं। यह उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट है, "जहाँ

तक ज्ञान मीमांसा का सम्बन्ध है, हम प्रत्ययवाद को शुनिश्चित रूप से अस्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त अभिकथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में ज्ञान सापेक्षतावाद के पूर्ण विरोधी हैं। इसलिए वे जहाँ एक ओर वे बर्कले जैसे प्रत्ययवादी के विचार का खंडन करते हैं वहाँ दूसरी ओर संशयवाद जैसे ज्ञान सापेक्षतावादी विचारों को भी अस्वीकार करते हैं। राय का यह दृष्टिकोण निश्चित रुप से वैज्ञानिक ज्ञान, यथार्थवादी ज्ञान तथा वस्तुनिष्ठ ज्ञान का समर्थन करते हैं। इस दृष्टि से राय की ज्ञानमीमांसा को हम वस्तुनिष्ठवादी अथवा यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा के समानान्तर बिना हिचक के स्वीकार कर सकते हैं।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में राय के विचार अनुभव के उत्कर्ष पर आधारित हैं। किन्तु ऐसे अनुभववादी विचारको वे जॉन लॉक की अनुभववादी परम्परा से भिन्न मानते हैं। ब्रिटिश अनुभववाद की जिस परम्परा की शुरुआत जॉन लॉक के विचारों में देखने को मिलते हैं, उन्हें हम बर्कले के आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद से गुजरते हुये देखकर डेविड ह्यूम के संशयवाद में परिणत होते हुए देखते हैं। इस प्रकार लॉक के अनुभव-वादी मान्यताओं की चरम परिणति संशयवाद में होती है। यह अंतिम रूप में ज्ञान सापेक्षतावाद एवं अज्ञेयवाद में परिणत हो जाता है। फलस्वरुप ज्ञान की वस्तुनिष्ठता की ही समाप्ति हो जाती है। राय ऐसे विचार को अस्वीकार करते हैं।

लॉक के ज्ञानमीमांसीय विचार की असंगतियों की चर्चा राय करते हैं तथा मानते हैं कि ह्यूम के अज्ञेयवाद का जन्म ऐसे ही विचारों से हुआ है। यद्यपि लॉक वाह्य जगत की मौलिक सत्ता को अस्वीकार नहीं करते किन्तु उनके विचार से ऐसी सत्ता के ज्ञान की संभावना संदिग्ध हो जाती है। यह निश्चित रुप से दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है क्योंकि इससे भौतिक जगत की वस्तु निष्ठता में तो आस्था घटती ही है साथ ही साथ वैज्ञानिक ज्ञान की संभावना भी संदिग्ध हो जाती है। फिर भी वे लॉक के इस विचार से सहमत हैं कि प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र साधन हैं।[6]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय लॉक के अनुभव वादी विचार की समीक्षा करते हैं तथा अपने अनुभववाद में ये इनके दोषों से बचने का संकल्प करते हैं। प्रत्यक्ष की अनुभूति को स्वीकारते हुये वे लॉक के इस विचार से अपनी सहमति प्रकट करते हैं कि इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान संदिग्ध भी हो सकता है। इसी उद्देश्य से वे लॉक के अनुभववाद एवं उनके समर्थकों की असंगतियों से वैज्ञानिक ज्ञान को दूर करने का संकल्प लेते हैं। ऐसे ज्ञान के भंडार को पुष्ट करने का भी इनका सफल प्रयास हमें देखने को मिलते हैं।

अनुभववादी सिद्धान्त की समीक्षा के क्रम में राय यह बतलाते हैं कि ऐसे सिद्धान्त का प्रथम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण दोष मन एवं जड़ तत्व के बीच के द्वैत में विश्वास है। यह दोष अनुभववादी मान्यताओं का ही दोष नहीं हैं। बुद्धिवादी विचारधारा के सबल पक्षधर देकार्त्त ने भी मन एवं जड़ तत्व के द्वैत पर अपने दार्शनिक विचारों को आधारित किया है। इससे ऐसा लगता है कि राय की दृष्टि में लॉक की अनुभववादी परम्परा जितनी दोषपूर्ण है इससे कम दोषपूर्ण बुद्धिवाद की परम्परा नहीं है। लॉक ने मन एवं जड़ तत्व के भेद को पूर्ण रुपेण स्वीकारा है तथा उनके बीच किसी भी प्रकार के क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा को भी पूर्णतः अस्वीकारा है। ऐसी स्थिति में उनके अनुसार जड़ तत्व या वाह्य जगत की साक्षात चेतना मन को प्रत्यक्षानुभूति द्वारा कभी भी नहीं हो सकती। इसी क्रम में उन्होंने प्रत्ययों के विचार का समर्थन किया है जो मन एवं वाह्य जगत के बीच माध्यम का काम करते हैं। राय के अनुसार ऐसे विचार असंगत हैं तथा प्रत्यय को मध्यस्थता करने के विचार का कोई औचित्य ज्ञान मीमांसीय दृष्टि कोण से नहीं है।

वैज्ञानिक विचारों के विकास के कारण दार्शनिक चिन्तन में भी व्यवस्था देखी जाती है। वैज्ञानिक ज्ञान की आधार शिला ही व्यवस्थित चिन्तन तथा वैज्ञानिक विधि है। ऐसे ज्ञान का आधार वस्तुनिष्ठ चिन्तन एवं विश्लेषण है। फलस्वरुप ज्ञान की कोई भी शाखा विज्ञान के इस देन से प्रभावहीन नहीं हैं। विज्ञान ने दर्शन के भी कार्यों को सुगम बना दिया है। आज विज्ञान के विकास के साथ मन एवं जड़ तत्व के बीच का द्वैत समाप्तप्राय हो चुका है। दार्शनिक चिन्तन वैज्ञानिक ज्ञान के प्रभाव से देकार्त्तिय द्वैतवाद की सीमा को पार कर मन एवं जड़ तत्व के बीच की खाई को समाप्त कर सकता है, जड़ जगत एवं चेतन जगत के बीच के बिलगाव को समाप्त कर सकता है। जैसा कि वे लिखते भी हैं, "वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से दर्शन देकार्त्त के विचारों से भी आगे जा सकता है, उनके स्वेच्छाचारी द्वैतवाद को समाप्त कर जड़ जगत एवं चेतन जगत को अलग करने वाली खाई पर सेतु का निर्माण कर सकता है।[17]

राय चेतना अथवा मन की स्थिति पर ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से विचार करते हैं तथा मानते हैं कि मन स्वयं चेतना की एक दशा है। ऐसी चेतना की उत्पत्ति चेतना की प्रतिक्रिया के फलस्वरुप ही होती है। तथाकथित मन एवं भौतिक जगत के बीच एक अविच्छिन्नता देखी जाती है। अतः राय मन एवं चेतना की व्याख्या करते हैं। इनके अनुसार मन चेतना की एक जटिल अवस्था है जिनका उद्‌भव

संवेदनाओं के प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होता है। अत: एक अत्यन्त ही उलझनपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। यह प्रश्न है—मन की दशा किस प्रकार अचेतन अधिकरण द्वारा उत्पन्न होते हैं ? राय के अनुसार ऐसे प्रश्न अर्थहीन हैं। इससे प्रत्यय प्रतिनिधिवाद जैसे सिद्धान्त का जन्म होता है तथा जिसकी परिणति प्रत्ययवाद में नहीं होती। इस प्रकार मन एवं जड़ तत्व के सामीप्य से द्वैत का प्रभाव समाप्त प्राय: होने लगता है। ऐसी ही स्थिति में राय प्रत्यय प्रतिनिधिवाद के सिद्धान्त का संशोधित रूप उपस्थित करते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि राय जहाँ लॉक के अनुभववाद के रुप का खंडन करते हैं वहीं वे लॉक के द्वारा समर्थित प्रत्यय प्रतिनिधिवाद के सिद्धान्त का रूप परिवर्तित कर, महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं। लॉक की ऐसी स्थिति की वे पूर्ण विवेचना करते हैं।

लॉक के प्रत्यय प्रतिनिधिवादी विचार में प्रत्यय को सत्ता का प्रतिनिधि स्वीकारा जाता है। इसी अर्थ में इस सिद्धांत को प्रत्यय-प्रतिलिपि सिद्धांत भी कहते हैं। इस सिद्धांत का समर्थन लॉक ने अनुभविक विधि के द्वारा की है। इस प्रकार आनुभविक विधि पर आधारित इस प्रत्यय प्रतिनिधिवाद में ज्ञाता एवं ज्ञेय के बीच द्वैत की स्थिति आ जाती है। इसे सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित किया जा सकता है—

1. लॉक मन को कोरे कागज की तरह, रिक्त पटिया की तरह तथा अन्ध कोठरी की तरह मानते हैं। अर्थात् मन प्रत्ययविहिन, निर्गुण तथा निष्क्रिय रहते हैं।

2. मन को केवल प्रत्ययों की चेतना रहती है। इसे सत्ता तक साक्षात रीति से पैठ नहीं होती।

3. प्रत्यय सत्ता की सच्ची प्रतिलिपि होते हैं तथा उनकी पैठ सत्ता तक प्रत्ययों के माध्यम से ही होती है।

लॉक के इस विचार को संक्षेप में उपस्थित करने के क्रम में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान प्रतिनिधि प्रत्यक्ष के बोधक हैं। प्रत्यय वस्तु का प्रतिनिधित्व मन में करते हैं तथा ये ही मन एवं भौतिक जगत के बीच माध्यम का काम करता है। हमें केवल प्रत्ययों की साक्षात अनुभूति होती है। भौतिक वस्तुओं को हम असाक्षात रीति से प्रत्ययों के माध्यम से अनुभव कर पाते हैं। लॉक के इस सिद्धांत

की काफी आलोचना हुई है। इन आलोचनाओं के विस्तार में न जाकर इसके सम्बन्ध में थोड़ा विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

लॉक ने वास्तविक ज्ञान को प्रत्ययों एवं वस्तुओं के बीच की संगति माना है। यदि इसे ही इस सिद्धांत की कसौटी मान ली जाय तो लॉक का यह सिद्धांत ही खंडित हो जाता है। जब हम यह मान लेते हैं कि वस्तुओं तक हमारी सीधी पहुँच नहीं हो सकती तथा हम वस्तुओं को प्रत्ययों के माध्यम से जानते हैं तो फिर वस्तुओं एवं प्रत्ययों के बीच संगति का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः ज्ञाता एवं ज्ञेय के बीच के द्वैत से ही प्रत्ययों एवं वस्तुओं के बीच का द्वैत उठ खड़ा होता है। जिनकी चरम परिणति वस्तुओं के ज्ञान के संभावना के संशय में होती है। अतः कहा जा सकता है कि सत्यापन का माध्यम अनुभव है, भले ही यह अनुभव वास्तविक जगत का है अथवा यह प्रत्ययों का परदा है, ऐसे प्रश्न महत्वहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार लॉक के द्वैतवाद से उत्पन्न ज्ञान की धारणा यदि कृत्रिम दृष्टिकोण है तो उसके अनुरूप ही संशयवाद का विकास भी होता है। अतः राय लॉक के इस दृष्टिकोण को सुसंगत नहीं मानते तथा बतलाते हैं कि ये अनेक भ्रान्तियों को उत्पन्न करने वाले हैं।

लॉक के ज्ञानमीमांसीय असंगतियों की वे चर्चा करते हैं। इनके अनुसार लॉक ने संवेदना को प्रत्यक्षीकरण के साथ मिला दिया है तथा संवेदना को प्रत्यक्षीकरण की तुलना में मन की दशा मात्र स्वीकारा है। इससे उनके विचार में असंगति आ गई है। सत्य तो यह है कि संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण ज्ञान की दो भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं। इन्हें एक मानकर ज्ञान की व्याख्या करना अथवा दोनों को मन की एक ही दशा मानकर ज्ञान के स्वरूप को अस्पष्ट एवं अस्त-व्यस्त कर देना लॉक के विचार की महत्वपूर्ण असंगति है।

इतना ही नहीं लॉक ने मन को निष्क्रिय आधान मानकर भी भारी भूल की है। हमारे दिन प्रतिदिन के अनुभव इस तथ्य को साक्षी है कि मन ही सबसे महत्वपूर्ण सक्रिय पात्र है। भारतीय विचारधारा में तो इसे अत्यधिक सक्रिय माना गया है। इसकी तुलना वायुवेग तथा प्रकाश की किरण से की गई है। सत्य तो यह है कि ऐसे क्रियाशील अधिकरणों से भी यह अधिक क्रियाशील है। अतः राय[18] मन को निष्क्रिय आधान माने जाने के विचार को स्वीकार नहीं करते।

लॉक ने यह माना है कि प्रत्यक्षीकरण वाह्य ऊत्तेजनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। तथा मन उन्हें केवल ग्रहण करते हैं। राय के अनुसार यह धारणा सही नहीं

है। वाह्य उत्तेजनाओं से संवेदनाओं की रचना होती है, उनसे प्रत्यक्षी करण रचित नहीं होते। इसी प्रकार ज्ञान अर्जन के क्रम में मन भी निष्क्रिय नहीं रहते। मन तो वाह्य उत्तेजनाओं को ग्रहण करने में सक्रिय रहते हैं तथा ज्ञान की उत्पत्ति मन एवं वाह्य उत्तेजनाओं के मिलने से ही संभव हो पाती है। यही कारण है कि राय लॉक के तत्सम्बन्धी विचारों को अस्वीकार करते हैं। जैसा कि वे लिखते हैं, "प्रत्यक्षीकरण वाह्य अधिकरणों द्वारा उत्पन्न नहीं होते जैसा कि पुराना कारणिक सिद्धांत स्वीकारता है, वाह्य उत्तेजनायें संवेदनाओं का कारण बनती हैं जो मन के द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है।"[19]

लॉक की मन सम्बन्धी गलत धारणा तथा प्रत्यक्षीकरण की उत्पत्ति के विचार को असंगत सिद्ध करने के बाद राय लॉक के द्वारा विवेचित प्रत्यय के स्वरूप पर विचार करते हैं। लॉक प्रत्ययों को मानसिक चित्रों की प्रतिष्ठा देते हैं तथा राय लॉक के इस विचार से सहमत हैं। किन्तु राय इन प्रत्यों को वस्तुओं के मात्र मानसिक चित्र मानने के विचार से अपनी असहमति प्रकट करते हैं। इनके अनुसार ये प्रत्यय तो वस्तुओं के ज्ञान के प्रतिनिधि हैं। राय[20] के अनुसार" किसी भी वस्तु के प्रत्यय की प्राप्ति के पहले ही हमें उनका ज्ञान अवश्य हो जाता है। प्रत्ययों को मानसिक चित्रों की संज्ञा दी जा सकती है, वे वस्तुओं के ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं, वस्तुओं का नहीं।" हमें वाह्य जगत के साथ भौतिक संसर्ग होता है तथा इसके फलस्वरूप प्रत्यक्षीकरणों की अनुभूति होती है जिन्हें ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। अतः हम वस्तुतः वस्तुओं को जान पाते हैं, प्रत्ययों को नहीं। इस प्रकार राय लॉक के ज्ञान सम्बन्धी विचार के क्रम में ही परिवर्तन कर देते है। लॉक के अनुसार वस्तुयें ज्ञान के व्युत्पादक हैं जबकि राय के अनुसार प्रत्यय ही ज्ञान के व्युत्पादक हैं। इनके अनुसार हमें प्रत्ययों की अनुभूति इसलिए होती है कि हमें वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः राय लिखते हैं, "प्रत्क्षीकरण से ज्ञान उत्पन्न होते हैं जो भौतिक संसर्गो की सावयवी प्रतिक्रिया हैं। हम वस्तुओं को जानते हैं, प्रत्ययों को नहीं। ज्ञान प्रत्ययों से रचित नहीं होते इसके विपरीत प्रत्यय ही ज्ञान के व्युत्पादक होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय प्रतिनिधि हो सकते हैं तथा वज्ञानिक प्रत्यय प्रतिनिधि होते हैं।"[21]

प्रत्यय सम्बन्धी ये विचार जहाँ एक ओर दर्शन को संशयवाद की ओर उन्मुख होने से बचाते हैं वहीं दूसरी ओर ये ज्ञान सापेक्षतावाद के विचार से भी विमुख रहते हैं। लॉक क प्रत्यय सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कर इस प्रकार राय अपने ज्ञानमीमांसीय विचारों को वैज्ञानिक पुट देने में समर्थ हो पाते हैं। इतना ही

नहीं अपने ज्ञान सम्बन्धी विचार को वे संशयवाद एवं ज्ञान सापेक्षतावाद जैसे दोषपूर्ण विचारों से भी मुक्त करने में समर्थ हो पाते हैं।

जैसा कि आरम्भ में ही यह स्वीकारा जा चुका है कि राय एक अनुभववादी विचारक हैं। किन्तु इनके अनुभववाद लॉक एवं बर्कले के अनुभववाद से भिन्न वैज्ञानिक अनुभववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः लॉक के विचारों की समीक्षा के उपरान्त राय बर्कले के अनुभववादी दर्शन की समीक्षा भी करते हैं तथा उनकी असंगतियों को बतलाते हुये अपने अनुभववादी विचारधारा को और अधिक ठोस आधार प्रदान करते हैं।

बर्कले के दर्शन का केन्द्र स्थल उनकी प्रसिद्ध उक्ति एसे इस्ट परसीपी में निहित है जिसका अर्थ अस्तित्व एवं प्रत्यक्षीकरण के बीच तादात्म्य स्थापित करने में निहित है। बर्कले अपनी इस उक्ति का समर्थन जड़ द्रव्य के खंडन के आधार पर करते हैं जिनका आधार प्राथमिक एवं गौण गुणों के बीच अभिन्नता हैं। ऐसी ही उक्ति तथा ऐसे ही विचार बर्कले के प्रत्ययवाद के आधार स्तम्भ हैं। चूँकि बर्कले के अनुसार कोई भी वस्तु भौतिक नहीं होते बल्कि प्रत्ययों से निर्मित होते हैं इसलिये मन के लिये उनकी साक्षात चेतना होने के विचार में कोई कठिनाई नहीं रह जाती है। इस प्रकार लॉक के विचार की तरह ही भौतिक वस्तुओं को मानसिक चित के रूप में मान्यता देने के विचार भी निरर्थक हो जाते हैं। बर्कले के विचार की गहराई में जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी लॉक की तरह ही संवेदनाओं को प्रत्ययों के साथ तादात्म्य मानते हैं। राय द्वारा समर्थित प्रत्यय के नये रुप की दृष्टि से ऐसे तादात्म्य भी गलत सिद्ध हो जाते हैं तथा इन पर आधारित प्रत्ययवाद की आधार शिला भी टूट जाती है। राय इस विचार को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं, "चूँकि प्रत्ययों का अस्तित्व ज्ञान पर हेत्वाश्रित है इसलिये हम केवल अपने प्रत्ययों को जानते हैं जैसे विचार की स्वीकारोक्ति स्पष्टतया निरर्थक हैं।"[22] इस दृष्टि से राय वस्तु एवं विषय के बीच भेद करते हैं। इनके अनुसार प्रत्ययों की संगति विषयों के साथ होती है वस्तुओं के साथ नहीं। अनेक ज्ञान-मीमांसीय कठिनाईयाँ ऐसे ही भेद को नहीं जानने के कारण ही उत्पन्न होती है।[23] अतः वस्तु एवं विषय के बीच की विभाजक रेखा को स्पष्ट कर लेना समीचीन प्रतीत होता है।

वाह्य जगत में अनेक वस्तुयें देखी जाती हैं। इन वस्तुओं में विभिन्नतायें देखी जाती है तथा ऐसी हीं विभिन्न वस्तुओं से वाह्य जगत निर्मित होते हैं। मनुष्य के लिये जगत की असंख्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना असंभव ही हैं। हम ऐसी

असंख्य वस्तुओं में से कुछ के ही संसर्ग में आ पाते हैं। जिन वस्तुओं के संसर्ग में हम आ पाते हैं उन्हें विषय अथवा ज्ञेय वस्तुओं की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसी स्थिति में ज्ञात वस्तुओं को ही विषयों की संज्ञा दी जा सकती हैं। इस प्रकार राय के अनुसार समस्त विषयों को वस्तुओं की संज्ञा दी जा सकती है किन्तु सभी वस्तुओं को विषय नहीं कहा जा सकता। अतः राय[24] विषय की परिभाषा प्रत्यक्षानुभूत वस्तुओं के रूप में देते हैं तथा मानते हैं कि ये दोनों तात्विक दृष्टि से तादात्म्य नहीं रखते। विषय सदा वस्तुओं के बोधक होते हैं। अर्थात वे अस्तित्व के दृष्टि से वास्तविक होते हैं किन्तु वस्तुयें सदा प्रत्यक्ष अनुभूति के विषय नहीं बनते, ज्ञान के विषय नहीं हो पाते। वे अस्तित्ववान रहते हैं किन्तु विषय के रूप में उन्हें ज्ञान मीमांसीय स्थिति की प्राप्ति नहीं हो पाती। राय अन्वेषण के पूर्व के अमेरिका तथा युरेनस ग्रह का उदाहरण उपस्थित करते हैं तथा बतलाते हैं कि अन्वेषण के पूर्व वे वस्तुओं के रूप में अस्तित्ववान थे किन्तु अन्वेषण के बाद ही उन्हें विषय होने की प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी है। अतः राय एक को ज्ञानमीमांसीय पदार्थ मानते हैं तथा दूसरे को वे तत्वमीमांसीय पदार्थ की संज्ञा देते हैं। प्रथम श्रेणी में विषय को रखा जा सकता है जब कि दूसरी श्रेणी में समग्र वस्तुओं को स्वीकारा जा सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुओं एवं विषयों के बीच भेद किया जा सकता है। इसके आधार पर कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सर्व प्रथम इससे यह स्पष्ट हो पाता है कि हम कुछ ही वस्तुओं को जानने में समर्थ हो पाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के विषयों को सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ तादात्म्य नहीं माना जा सकता है। इन निष्कर्षों के द्वितीय पक्ष का समर्थन प्रत्ययवादी विचारक करते हैं। फलस्वरूप कई ज्ञानमीमांसीय कठिनाईयों उत्पन्न हो जाती हैं। इस दृष्टि से उदाहरणस्वरूप ब्रैडले जैसे महान प्रत्ययवादी विचारक का उदाहरण उपस्थिति किया जा सकता है।

ब्रैडले[25] ने निर्णयों की व्याख्या की है तथा इन्हें ब्रैडले ने तथ्यों का विरुपण स्वीकारा है। इनके अनुसार हमारी बुद्धि जगत का वास्तविक चित्र उपस्थित करने में समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में दिये गये तथ्य हमारी ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष उपस्थित सम्बन्धों एवं गुणों का सम्पूर्ण संरचना है। जब हम निर्णय करते हैं तो निर्णय के क्रम में हम विश्लेषण करने के लिये वाध्य हो जाते हैं तथा इनके क्रम में अपनाई गई विभेद में भी वाध्यता देखी जाती है। ऐसी स्थिति में हम कुछ दिये गये तत्वों को दूसरों से भिन्न कर पाते हैं। इस क्रम में विभेदीकरण, विभाजन, संक्षेपण आदि की क्रियायें भी सन्निहित देखी जाती है। हम सम्पूर्ण सत्ता से कुछ दिये गये अंश को छाँट लेते हैं।

अतः इस प्रकार यदि प्रत्येक विश्लेषवियोजनात्मक निर्णय में तथ्यों का विरुपण देखा जाता है तो सत्य के दावे की स्थापना कैसे हो सकती हैं ? इस प्रश्नवाचक चिन्ह के माध्यम से ब्रैडले यह दिखलाना चाहते हैं कि किसी भी निर्णय में सत्य के दावे देखे नहीं जा सकते क्योंकि इनके माध्यम से वस्तु के समस्त रुप को नहीं जाना जा सकता है। इसी दृष्टि से ये सत्य एवं असत्य की मात्रा के पक्ष का समर्थन करते हैं तथा लिखते हैं, "हमारे विचारों, निश्चित रूप से कुछ प्रयोजनों के लिये, को पूर्णतः असत्य माना जा सकता है, अथवा पुनः पूर्णतः यथार्थ भी, किन्तु सत्य एवं भ्रम निरपेक्ष सत्ता के दृष्टि से मापे जाने पर प्रत्येक में सर्वदा मात्रा का भेद अवश्य होगा।"[26] इस प्रकार कोई भी सत्य, ब्रैडले के अनुसार न तो पूर्णतः सत्य ही हो सकता है और न कोई भ्रम पूर्णतः असत्य ही। इससे स्वतः यह पता चलता है कि ब्रैडले के अनुसार वही ज्ञान केवल सत्य है जो निरपेक्ष रूप से सत्य होते हैं। अतः एक सच्चे निरपेक्ष प्रत्ययवादी की तरह ब्रैडले निरपेक्षता को ही सत्ता एवं सत्य की कसौटी स्वीकार करते हैं। यह सभी निरपेक्ष प्रत्ययवादी विचारकों के ज्ञान-मीमांसीय विचार का आधार है।

राय प्रत्ययवादी विचारकों के इन कठिनाईयों को समाप्त करने के क्रम में ही विषयों एवं वस्तुओं के बीच भेद करते हैं। इनकी यह धारणा है कि ऐसे भेद से प्रत्ययवादी विचारको द्वारा उत्पन्न की गई सारी कठिनाईयाँ समाप्त हो जाती है। राय [27] की यह मान्यता है कि वस्तु के ज्ञान की अपूर्णता इस की विषयनिष्ठता को प्रभावित नहीं करते हैं। इनके अतिरिक्त, विषयनिष्ठ ज्ञान की दृष्टि से ये पूर्ण होते हैं क्योंकि ये वस्तुतः अनुभूत वस्तु के अंशों को व्याप्त कर लेते हैं। वस्तु की दृष्टि से ऐसे ज्ञान पूर्ण नहीं होते किन्तु विषय की दृष्टि से ये पूर्ण होते हैं। इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान सदा विषय निष्ठ होते हैं जबकि इनसे उत्पन्न प्रत्ययों में समय-समय पर परिवर्तन देखा जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय ज्ञान को विकास से तादात्म्य मानते हैं। इनके अनुसार कोई भी ज्ञान अंतिम तथा निरपेक्ष नहीं होते हैं। इस दृष्टि से सत्य की निरपेक्ष कसौटी की चर्चा करना संशयपूर्ण है तथा विज्ञान के मूल स्वरुप के विपरीत भी है। इसी क्रम में राय प्रायिकता नियम को दर्शन एवं विज्ञान का सुरक्षित मार्ग दर्शक के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः राय के द्वारा समर्थित ज्ञान के सिद्धान्त मुख्यतः प्रायिकता के नियम पर आधारित ही दीखते हैं।।

वैज्ञानिक ज्ञान के विकास का इतिहास प्रायिकता के नियम पर आधारित है। कारणिक प्रायिकता, प्रायिकता की कसौटी, हेत्वाश्रित प्रायिकता तथा आगमना-

त्मक प्रायिकता ऐसे विचार हैं जिन पर विज्ञान की आधारशिला निर्मित है। "प्रॉबेब्ल"[28] शब्द लैटिन के "प्रॉबैब्लिश" शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ अनुमोदनीय होता है। इन्हीं के लगभग समानार्थक अंग्रेजी शब्द "इवेलुयेटिव", कान्सिडर, प्लॉज्बिुल रीजनेबुल आदि है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रॉबेब्ल शब्द का समानार्थक शब्द कारणिक दृष्टि से प्रायिक है। प्रायिकता से सर्वप्रथम भिन्नता ह्यूम ने सिद्ध की है। इसे रेचेनबैक तथा कार्नप के विचारों में विकासित होते हुये देखा जा सकता है। इस प्रकार कीन्स, लीविश, कीन्ले, स्ट्रॉसन आदि के विचारों में इसके महत्त्व को देखा जा सकता है। राय ने पाश्चात्य जगत के विचारकों का उदाहरण उपस्थित करते हुये यह दिखलाया है कि प्लेटो, डेकार्ट, लॉक, लायबनिज तथा ह्यूम के विचारों में भी ज्ञान की व्याख्या के क्रम में निश्चयात्मकता के तत्व पर बल दिया गया है। ज्ञानमीमांसीय विचारों में भिन्नता के बावजूद ये यह स्वीकारते हैं कि सही ज्ञान को अवश्य ही निश्चित होना चाहिये। इस तरह के ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त की चरम परिणति राय के अनुसार सदा ही संशयवाद के किसी न किसी रूप में होती रही है। फलस्वरूप ज्ञान की सम्भाव्यता ही संकटपूर्ण स्थिति से गुजरता रहा है। इसी दृष्टि से बहुत सारे आधुनिक चिन्तकों ने वैज्ञानिक ज्ञान की व्याख्या के क्रम में निश्चयात्मकता की धारणा को ही चुनौती दी है।

प्रत्येक विवेकशील प्राणी को यह स्वीकारना पड़ता है कि वाह्य जगत को जानने के लिए उन्हें ज्ञानेन्द्रियो एवं अनुभवों पर आश्रित होना पड़ता है। इस दृष्टि से आगमन को ज्ञान के जाने माने साधन के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। किन्तु आगमन का महत्त्व बिना प्रायिकता के विचार के प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। ऐसे ही महत्त्व को जॉन पैट्रिक डे ने अपनी पुस्तक "इन्डक्टिव प्रबेबिलीटी" में स्पष्ट किया है तथा बतलाया है कि वैज्ञानिक ज्ञान का आधार यहीं है। सी० डी० ब्रॉड ने भी माइन्ड पत्रिका में प्रकाशित अपने निबन्ध "ऑन द रीलेशन वीटवीन इनडक्सन ऐन्ड प्रॉबेविलिटी" में ऐसे तथ्य का समर्थन किया है इनके अनुसार कुछ वस्तुओं को अभिव्यक्त करने वाली अभिव्यक्ति की प्रायिकता के आधार पर तत्सम्बन्धी सभी वस्तुओं को स्पष्ट करने वाली प्रतिज्ञप्ति की सिद्धि की पूर्ण यथार्थता है। ऐसे सामान्य प्रतिज्ञप्ति की स्थापना के विषय वस्तुतः जटिल विधेय पूर्णप्रायिक होते हैं जिन्हें निरीक्षित तिथि के क्रम में देखा जा सकता है।

यहाँ यह देखा जा सकता है कि यदि निष्कर्ष किसी एक विपरीत उदाहरण के द्वारा खंडित हो जाते हैं तो ऐसे प्रायिक निर्णय असार सिद्ध हो जाते हैं। इस

सम्बन्ध में प्रोफेसर कीन्स[29] की उक्ति द्रष्टव्य है जहाँ उन्होंने ऐसे आक्षेप का उत्तर उपस्थित किया है, "आगमन हमें यह बतलाता है कि एक निश्चित साक्ष्य पर आधारित एक निश्चित निष्कर्ष युक्तियुक्त होते हैं न कि स्वयं इनमें युक्तियुक्तता देखी जाती है। यदि कल सूर्योदय नहीं होता है, अगर क्वीन एने फिर भी जीवित रहती है तो इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि इसके विपरीत विश्वास हमारे लिये मूर्खतापूर्ण एवं अविवेकपूर्ण थे।"

अतः यह स्पष्ट है कि पूर्व दार्शनिक दर्शन को संशयवाद से बचाने में असमर्थ रहे हैं। इसका एक मात्र कारण इनका ज्ञान की निश्चयात्मकता के आदर्श जैसी असम्भव धारणा में आस्था है। राय के अनुसार वास्तविक ज्ञान की समस्या का समाधान तभी संभव है जब हम ज्ञान को एक विकास का रुप माने तथा इन्हें प्रायिक ज्ञान पर आश्रित मानें। राय के इस विचार के समर्थन में पुनः प्रोफेसर कीन्स के विचार को उद्धृत किया जा सकता है। कीन्स ने लिखा है[30] कि अगर हम प्रायिक ज्ञान की ही वास्तविकता स्वीकार करते हैं तो इससे तत्वमीमांसीय विवेचनों को एक नवीन तर्क की विधि प्राप्त हो पाती है। इससे महान प्रगति की आशा की जा सकती है। यदि अनुभूत विषयों की वास्तविकता एवं स्वरूप का उपादेय अन्वेषण इस विधि द्वारा की जाय, ऐसी विधि जो विज्ञान की विधि से भिन्न नहीं है तो बहुत ही उच्च कोटि की निश्चयात्मकता की प्राप्ति हो सकती है, वैसी निश्चयात्मकता की जो वैज्ञानिक निष्कर्षों में भी देखी जाती है। इस प्रकार राय यह मानते हैं कि ज्ञान की धारणा एवं विकास की धारणा के बीच यदि तादात्म्य सम्बन्ध मान लिया जाय तो आधुनिक आनुभविक विज्ञानों द्वारा प्रतिष्ठित नियमों के साथ भी इनका सामंजस्य होगा इस प्रकार राय ज्ञान के आनुभविक सिद्धान्त के महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा ऐसी ही सिद्धान्त के समृद्धि में योगदान देते हैं। इसी क्रम मेंवे यह मानते हैं कि ज्ञान एक ही साथ आत्मनिष्ठ एवं विषयनिष्ठ हो सकते हैं तथा इसी पृष्ठभूमि में वे अपने सिद्धान्त में निहितार्थ को स्पष्ट करते है।

प्रत्ययवादी विचारकों ने ज्ञान को मनाश्रित मान कर आत्मनिष्ठावाद के सिद्धान्त का समर्थन किया है। यह विचार बर्कले की उक्ति **ऐसे इस्ट परसीपी** में निहित है। चूँकि विषयों के प्रत्ययों को मनाश्रित देखा गया है, इसलिये विषय को अपने आप में मनाश्रित माना जा सकता है। राय[31] के अनुसार ऐसे निष्कर्ष दोषपूर्ण हैं। इनके अनुसार मनाश्रित होने का अर्थ मन की दशाओं में होना नही है। इसका कारण यह है कि ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से जबकि विषय मनाश्रित हैं, अस्तित्व की दृष्टि से वे स्वतंत्र हैं।

ज्ञान का स्पष्ट चित्र राय के अनुसार संज्ञान जैसे तथ्य में निहित है। संज्ञान मन एवं जगत के बीच के सम्बन्ध के बोधक हैं। ज्ञान की व्याख्या के क्रम में इन दोनों का ही समान महत्व है। इसलिये राय दोनों के सत्तात्मक वास्तविकता की स्वीकारोक्ति पर बल देते हैं। इस प्रकार ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से उनके बीच प्राथमिकता सिद्ध करने का प्रश्न उठाना ही दोषपूर्ण है। सत्य तो यह है कि दोनों ही इस दृष्टि से समान महत्व रखते हैं। इसे सम्पुष्ट करने के लिए राय के ही शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है, "ज्ञानमीमांसा के लिए पूर्ववर्तिता का प्रश्न निरर्थक है। यह तत्वमीमांसा का प्रश्न है। ज्ञानमीमांसा को मात्र इन तथ्यों से निर्देशित होना चाहिए कि मन का अस्तित्व है तथा ज्ञान जितना ही मन के अस्तित्व को लेकर औपाधिक है उतना ही जड़ तत्व के अस्तित्व को लेकर भी।"[32] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान मन एवं जड़ तत्व दोनों के लिये ही औपाधिक हैं। राय मन को भौतिक जगत का ही एक अंश मानते हैं तथा यह स्वीकारते हैं कि हम जगत को बाहरी व्यक्ति की तरह अवलोकन नहीं करते बल्कि हम अपने को इसके अंशों के रूप में देखते हैं। अतः राय के अनुसार मानव भौतिक सांतत्यक के अंगों के रूप में ही हैं।

अपने विचार को और अधिक स्पष्ट करने के क्रम में राय आत्मनिष्ठ ज्ञान तथा विषयनिष्ठ ज्ञान के बीच के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। सामान्यतः यह देखा जाता है कि ज्ञान के क्रम में ज्ञाता तथा ज्ञान जैसी मानसिक क्रिया का महत्व है। यह मन के द्वारा ही अर्जित हो पाता है। इसलिए इसका स्वाभाविक निर्धारण ज्ञान प्राप्त करने वाले मन के आत्मनिष्ठ ढाँचे द्वारा ही संभव है। इस हद तक राय ज्ञान को आत्मानिष्ठ मानते हैं। किन्तु इससे यह भी तथ्य निःसृत होता है कि ज्ञान अन्ततः अर्जित है। यह ज्ञान प्राप्त करने वाले मन द्वारा निर्मित नहीं होता। इस दृष्टि से इसकी वस्तु निष्ठता देखी जा सकती है। अतः ज्ञान जहाँ एक ओर आत्मनिष्ठ है वहाँ दूसरी ओर वस्तुनिष्ठ भी। ऐसी स्थिति मन एवं जड़ तत्व जैसे समान महत्व वाले तत्वमीमांसीय अस्तित्वों के सम्बन्ध का फल हैं। किन्तु ज्यों ही ज्ञान रचित हो जाता है यह अपना अस्तित्वातमक सत्ता प्राप्त कर लेता है। अतः राय लिखते हैं, "विज्ञानवेताओं की मृत्यु हो जाती है किन्तु उनके द्वारा प्रतिस्थापित प्रकृति के ज्ञान जीवित रहते हैं। इसी प्रकार काल की अतल गहराई में वस्तुयें विलुप्त हो जाती है किन्तु तत्सम्बन्धी ज्ञान मानव सम्पति के रूप में कायम रहते हैं, यदि अन्य वस्तुओं की तरह वे किसी प्रकार विनष्ट न हो जाते हैं। ज्ञान एक वस्तु हैं, एक विलक्षण प्रकार की वस्तु किन्तु फिर भी यह वस्तु नहीं है। इसी कारण से यह विषयनिष्ठ है।"[33]

राय के अनुसार ज्ञान की यही अस्तित्वात्मक सत्ता मानव रुपों के विकास की आधार शिला है। इसे ही राय ने प्रत्ययों का गति विज्ञान (डायनेमिक्स ऑफ आइडियाज) कहा है। ऐसे प्रत्ययों की गतिकी का अन्वेषण ही राय के ज्ञानमीमांसा की विशिष्टता है।

प्रत्ययों के गतिविज्ञान एवं सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया को राय ने, समानान्तर माना है। ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा इनके परस्पर प्रभाव से ही ज्ञान में रचनात्मकता आपाती है। इन दो विचारों के समानान्तर स्वीकारे जाने के कारण कभी-कभी राय के दर्शन के समीक्षकों को यह भ्रम हो जाता है कि उनके दर्शन में द्वैतवाद का पुट है जिसे राय स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार दर्शन की प्रक्रिया को रसायनिक एवं भौतिक प्रक्रियाओं में रुपान्तरित किया जा सकता है तथा ऐसी प्रक्रियाओं को पुनः आणविक एवं वैधुत क्षेत्रों में परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में मानसिक क्रियाओं की उत्पत्ति सजीव जगत की भौतिक पृष्ठभूमि में देखी जा सकती है। राय प्रत्ययों को अद्वितीय तात्विक सत्ता नहीं मानते और न उन्हें ये भौतिक जगत की घटनाओं के साथ-साथ अस्तित्ववान या पूर्वअस्तित्ववान प्रागानुभविक वोयविय रूपों की प्रतिष्ठा ही देते हैं। इस प्रकार इनके अनुसार प्रत्यय न तो अद्वितीय हैं और न इनका तात्विक स्रोत ही है। वे मानव मस्तिष्क से उत्पन्न होते हैं जिन्हें विशिष्ट भौतिक-रसायनिक संयोजनों का पिण्ड माना जा सकता है तथा जो जैविक उद्विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं।[34]

राय ने प्रत्ययों के उद्भव की व्याख्या जैविक उद्विकास की पृष्ठभूमि में की है। उनके अनुसार ऐसे प्रत्ययों की उत्पत्ति की व्याख्या भौतिक जगत के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। उनके अनुसार आंगिक उद्विकास की प्राथमिक प्रवृति स्वतंत्रता की प्रेरणा में निहित है। अस्तित्व के सबसे निम्न अवस्था में अस्तित्व के लिये संघर्ष मुख्यतः अन्ध एवं स्वचालित देखे जाते हैं। किन्तु यही संघर्ष मानवीय अवस्था में आकर चेतन एवं निर्णायक हो जाता है। उद्विकास की इस उच्च अवस्था में चयन का तत्व आ जाता है। इस प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया में चयन तत्व के प्रवेश के साथ परिवर्तन अपने आप में आंशिक प्रयोजनोन्मुख होना प्रारम्भ हो जाता है। इसे ही रसायनिक-भौतिक तर्क की प्रक्रिया की संज्ञा दी गई है जिससे महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया की नई अवस्था की ओर प्रगति देखी जाती है।[35] इस प्रकार राय इस परिवर्तन के माध्यम से प्रत्ययों की उत्पत्ति की घोषणा करते हैं।

अपने विचार के इस पक्ष को स्पष्ट करने के क्रम में विशिष्ट प्रकार से

चालाकीयुक्त वनमानुष के उदाहरण की राय कल्पना करते हैं। सामान्यत: वनमानुष वृक्ष की फुनगी पर चढ़ कर फलों की प्राप्ति करते हैं। यहाँ उनके द्वारा मात्र हाथ के प्रयोग को आंगिक औजार स्वीकारा जा सकता है। यह मूलप्रवृत्यात्मक है। अत: यहाँ बौद्धिक चयन का कोई स्थान नहीं है। फिर भी अत्यन्त प्राचीन काल में ऐसे विलक्षण चतुर वनमानुष को सर्व प्रथम यह सूझा होगा कि वृक्ष की चोटी पर लगे फलों को वृक्ष की शाखाओं के सहारे प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे अति-आंगिक औजार के प्रयोग को चयन के तत्व से निहित माना जा सकता है। इनकी उत्पत्ति अस्तित्व के लिये संघर्ष के क्रम में ही देखी जा सकती है। इनका विकास भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में ही होता है। यहाँ क्रिया कलापों को प्रत्ययो द्वारा नियन्त्रित देखा जा सकता है। ऐसे प्रत्यय के विकास की व्याख्या के लिये किसी आलौकिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। इसके समर्थन में राय लिखते हैं, "प्रथम औजार के निर्माण का कार्य वैसे प्राणी द्वारा किया गया होगा जिसे अत्यन्त ही विकसित मस्तिष्क रहा होगा तथा जिसमें अल्पविकसित विचार की क्षमता रही होगी। प्रथम अजैविक, अतिआंगिक औजार का निर्माण मनुष्य के पूर्वजों द्वारा अस्तित्व के संघर्ष के क्रम में हुआ होगा जो पूर्वमानव जैविक उद्विकास को मौलिक आवेश प्रदान कर सका होगा।"[36] इस प्रकार राय प्रत्ययों की उत्पत्ति की व्याख्या भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में करते हैं।

भौतिक जगत की पृष्ठ भूमि में प्रत्ययों की उत्पत्ति की व्याख्या करने से ऐसा लगता है कि राय अनेकतत्ववाद का समर्थन करते हैं तथा प्रत्ययों के गतिविज्ञान एवं सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया को सामानान्तर मानने के कारण लगता है कि राय अपने विचार में द्वैतवादी हैं। सत्य तो यह है कि राय अनेक तत्ववादी एकवाद का समर्थन करते हैं। राय प्रत्ययों के स्वतंत्र एवं विषयनिष्ठ सत्ता में विश्वास करते हैं। यह विचार राय के निम्नलिखित विचारों में मिलता है, "दर्शन के आधार के रुप में एक तत्ववाद बेहतर है, किन्तु जीवन जगत की अनेकानेक अभिव्यक्तियों पर इनका प्रयोग करना सहज या अकृत्रिम होगा। प्रत्ययों के संचालन के बाद भौतिक घटनाओं के एक मौलिक प्रवाह जैविक जगत को विभक्त कर देते हैं, उद्विकास के उच्चतर अवस्था में भौतिक तथ्यों का पूर्वापर सम्बन्ध तथा प्रत्ययों के गति विज्ञान जैसी दोहरी प्रक्रिया का निर्माण होता है। मन एवं जड़ तत्व को एक उभयनिष्ठ हर में रूपान्तरित किया जा सकता है किन्तु सहज रूप से वे दो विषयनिष्ठ सत्तायें हैं।[37] इस दृष्टि से राय को अनेक तत्ववादी एकतत्ववाद का समर्थक स्वीकारा जा सकता है क्योंकि ये द्वैत में विश्वास नहीं करते तथा भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में

प्रत्ययों का विवेचन करते हैं।

यद्यपि राय एकतत्ववाद के समर्थक हैं फिर भी वे इसकी सीमाओं से परिचित हैं जहाँ एकतत्ववाद आनुभविक जगत की अनेकतत्वता को अस्वीकारता हैं। राय के अनुसार प्रत्ययों को स्वतंत्र सत्ता में विश्वास किये बिना सामाजिक उद्विकास की व्याख्या संभव नहीं है। यही कारण है कि जहाँ राय एक और द्वैतवाद का विरोध करते हैं वहाँ दूसरी ओर इनका विरोध निरपेक्ष एक तत्ववाद से भी है। इनका यह सुनिश्चित विचार है कि वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति के बावजूद दर्शन द्वैतवाद के दोषपूर्ण चक्र से मुक्त नहीं हो सकेगा जब तक कि वह यह अनुभव नहीं करेगा कि एकतत्ववाद आनुभविक जगत की अनेकतत्वता की अस्वीकारोक्ति को छोड़ चुका है। इससे राय का अर्थ यह है कि जब प्रत्ययों का एक बार निर्माण हो जाता है तो वह विषयनिष्ठ सत्ता के रूप में स्वतंत्र रुप में अस्तित्ववान रहता है तथा अपने नियमों द्वारा शासित होता रहता है। अतः प्रत्ययों के विषय निष्ठ सत्ता की अस्वीकारोक्ति का कोई प्रयास मात्र ही एकतत्ववाद को अतिसामान्य बना देता है। इस प्रकार राय यह मानते हैं कि प्रत्ययों के गति विज्ञान तथा सामाजिक विकास के द्वन्द्व से मानव स्वतंत्रता के जैविक उतसस्पन्दित होते हैं। इसलिये वे समानान्तर प्रक्रियायें हैं जिन्हें अनेक तत्ववादी एकतत्ववाद का आधार स्तम्भ कहा जा सकता है।

राय प्रत्ययों के गति विज्ञान से अत्याधिक प्रभावित है। इनका यह विश्वास है कि इतिहास में प्रत्ययों का सदा स्वशासी भूमिका रही है। इस विचार को स्पष्ट करने के क्रम में वे यन्त्रवाद तथा निरपेक्ष नियतिवाद का घोर विरोध करते हैं क्योंकि ये दोनों ही सामाजिक क्रान्ति के विचार के घोर विरोधी हैं। राय का यह सुनिश्चित विचार है कि मानव विकास एवं मानवीय संस्थाओं के विकास में यदि परिवर्तन एवं प्रगति के महत्व को स्वीकारना है तो प्रत्ययों के स्वशासी भूमिका को स्वीकारना ही होगा क्योंकि सामाजिक उद्विकास में ये अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। नये सामाजिक क्रम की प्रगति में नई विचारधारायें अनवरत रूप से योगदान देती हैं। नये विचारों से क्रियाशीलता का स्फुरण होता है जिसके फल-स्वरुप पूर्व स्थापित आर्थिक सम्बन्धों का विनाश होता है तथा नई व्यवस्था कायम होती है। ऐसा लगता है कि राय प्रत्ययों के गति विज्ञान को विचारधारा अथवा व्यवस्था का समानार्थक मानते हैं।
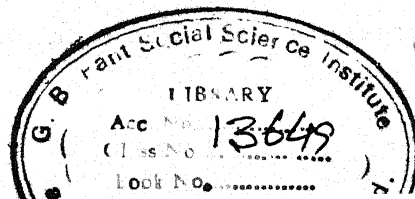
राय एक भौतिकवादी विचारक हैं तथा भौतिकवाद की दृष्टि से वे सामाजिक विकास तथा प्रत्ययों के गति विज्ञान को समग्र मानव विकास की प्रक्रिया की दो धाराओं के रूप में मानते हैं। जब कभी भी दर्शन मानव उद्विकास की उत्पत्ति को भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में देखने की चेष्टा करता है तो उसे इसके भौतिकवादी होने का प्रमाण मिलता है। किन्तु राय[38] अपने भौतिकवाद को मार्क्सवादी भौतिकवाद से भेद करते हैं। इनके अनुसार मार्क्स ने भौतिक जगत के परिवेश में मानसिक जगत की स्वशासिता की स्वीकारोक्ति की है। फलस्वरूप इसमें नियतिवाद का पुट आ गया है। मार्क्स के ऐसे भौतिकवाद को वे भौतिकवादी नियतिवाद कहते हैं तथा अपने भौतिकवाद की भिन्नता इससे सिद्ध करते हैं।

कार्ल मार्क्स ने आचार, धर्म, संस्कृति तथा अन्य सहवर्ती सामाजिक मान्यताओं की व्यख्या आर्थिक कारकों के माध्यम से की है तथा यह माना है कि आर्थिक बाध्यता के ज्ञान के आधार पर कोई भी व्यक्ति समाज के भविष्य को उद्घाटित कर सकता है। इस प्रकार मार्क्स ज्ञान को आर्थिक बाध्यता में समेट लेते हैं। राय इसे अंधविश्वास की संज्ञा देते हैं। इनके अनुसार यह दैविक नियम से बेहतर नहीं है। जैसा कि वे लिखते हैं, "इसमें कोई भेद नहीं है कि निरपेक्ष निर्धारक तत्व ईश्वरीय नियमों में विस्वास पर आधारित हो अथवा रहस्यमय आर्थिक नियमों पर, अथवा उत्पादनों के साधनों पर।"[39] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय[40] मार्क्स के विचार से भी संतुष्ट नहीं हैं क्योंकि इनके अनुसार कार्ल मार्क्स के विचार में भी चयन के तत्वों का कोई महत्व नहीं है। इतना ही नहीं राय के अनुसार आर्थिक नियतिवादिता के नियमों में भी धार्मिक विचारों की तरह अनवस्था दोष आ जाता है। यदि यह कहा जाय कि सामाजिक उद्विकास के मूल में उत्पादन का साधन है तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि किसने उत्पादन के प्रथम साधन का संचालन किया था? मार्क्सवादी इस प्रश्न को अनवस्था दोष के आधार पर ही स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं। अतः राय के सुनिश्चित विचार हैं कि ऐसे दोष से त्राण पाने के लिये हमें प्रत्ययों या विचारों के महत्व को स्वीकार करना होगा। यही बात राय मार्क्स के द्वारा बतलाए गए इतिहास के विचार में भी पाते हैं तथा अपनी इतिहास की धारणा में वे विवेक की महत्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। इतिहास निर्माण में मस्तिष्क के महत्व को स्वीकारते हुए वे लिखते हैं, "इतिहास का निर्माण मनुष्य के बाहुबल की अपेक्षा उसके मस्तिष्क द्वारा ही हो सकता है। बिना विचारों के महत्व को स्वीकार किये बिना, इसे इतिहास की सम्वाहक शक्ति माने बिना इतिहास कि भौतिकवादी धारणा अत्यन्त ही सतही सिद्धांत हो जाता है तथा ऐतिहासिक नियतिवाद दोषपूर्ण प्रतिज्ञप्ति हो जाती है।[41]

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि राय संभवतः अपने विचारों में अनिवार्यता तथा नियतिवादिता के महत्व को सामाजिक उद्‌विकास के क्रम में नहीं स्वीकारते हैं। यह सत्य से दूर हैं। शायद राय जितना जीवन में व्याप्त नियतिवाद से सजग हैं उतना शायद कोई भी व्यक्ति नहीं। इनके अनुसार विवेक एवं अनिवार्यता विकास की शक्तियाँ है तथा मनुष्य बौद्धिक एवं भावुक दोनों ही है। भावुकता के कारण उसमें सृजनशीलता आती है तथा मानव स्वतंत्रता को बढ़ावा मिलता है किन्तु विवेक के कारण व्यक्ति सामाजिक अनिवार्यता के प्रति जागरुक होता है। राय दोनों को विरोधी नहीं मानते। यदि कोई व्यक्ति अपने को पूर्णतः भावुक जीवन धारा में प्रवाहित कर देता है तो वह गलत स्वप्नद्रष्टा में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार जदि कोई व्यक्ति यदि केवल विवेक के घेरे में ही फंस जाता है तो वह भाग्यवादिता की ओर प्रवृत होने को बाध्य होने लगता है। यही कारण है कि राय विवेक एवं भाव-प्रवणता के बीच समन्वय की राय देते हैं। इनके अनुसार विवेक एवं रोमानी को साथ-साथ चलना चाहिए। सत्य तो यह है कि दोनों के समन्वय से ही सही स्वच्छन्दता का विकास हो सकता है तथा ऐसे विशिष्ट इतिहास को वे स्वच्छन्दता का इतिहास कहते हैं। राय के अनुसार जब मार्क्सवादी केवल आर्थिक नियतिवाद के नियमों को प्रश्रय देते हैं तो वे जीवन के रोमानी विचार के प्रति अन्याय करते हैं। इसी से उनका इतिहास एकांगी एवं अपूर्ण इतिहास बन जाता है। राय के अनुसार विवेक द्वारा प्रदर्शित रोमानीवाद तथा साहसिक शक्ति से परिपूरित भावप्रवणता बुद्धिवाद को सजग कर देती है। इस प्रकार दोनों के समन्वय से ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति का सफल मार्ग प्रशस्त होता है।[42] वस्तुतः राय के ज्ञानमीमांसीय विचार भी ऐसे ही सफल समन्वय के प्रतिफुलित रूप हैं।

मानवेन्द्रनाथ राय के ज्ञानमीमांसीय विचारों के विवरण से यह स्पष्ट है कि इनके तत्तसम्बन्धी विचार के दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष में ये निश्चित रूप से वस्तुवादी तथा भौतिकवादी ज्ञानमीमांसीय विचार का समर्थन करते हैं। ऐसी स्थिति में वे भौतिक जगत की विषय निष्ठ सत्ता पर जोर देते हैं। अतः उनकी ज्ञानमीमांसा ज्ञान की अनुभववादी आधार पर प्रतिष्ठित प्रतीत होती हैं। किन्तु ऐसे अनुभववाद को संस्थापित आधुनिक ब्रिटिश अनुभववाद से भिन्न माना जा सकता है। राय के अनुसार ब्रिटिश अनुभववाद का अन्त संशयवाद में होता है जहाँ अन्य मान्यताओं के अतिरिक्त कारणिक नियम जैसी महत्वपूर्ण मान्यता का भी खंडन देखने को मिलते हैं। यही कारण है कि राय अनुभववादी मान्यताओं को वस्तुवादी

एवं भौतिकवादी विचारों के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करते हुए अपने विचार को आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों का समर्थक मानते हैं। इस दृष्टि से वे इसे वैज्ञानिक अनुभववाद की संज्ञा देते हैं।

अपने ज्ञानमीमांसीय विचार के दूसरे पक्ष में वे विचारों को सृजनात्मक भूमिका निर्वहण करने का गुण प्रदान करते हैं। यहीं वे अपने भौतिकवादी मान्यताओं को भी शंकाशील दृष्टि से देखते हैं। अतः यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इन्हें प्रत्ययवादी विचारक कहा जाय या भौतिकवादी। राय स्वयं अपने को यहाँ कठिन परिस्थिति में पाते हैं तथा विचारों की भूमिका तथा दर्शन को इसकी दोनों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "जब ऐसे दृष्टिकोण पूर्णतः विकसित हो जायेंगे तो इनका रुपान्तरण नये दर्शन में हो सकेगा, न तो भौतिकवाद और न प्रत्ययवाद, आज की स्थिति में रहने पर, सामान्यतया इसे समझ सकेंगे।[43] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय अपनी इस स्थिति से सजग हैं कि इनके विचार को कोई प्रत्यय-वाद तथा कोई भौतिकवाद की संज्ञा दे सकता है। किन्तु वे यह मानते हैं कि इनसे ऊपर उठ कर हमें सत्य का अन्वेषण करना चाहिए तथा सत्यान्वेषण की संवेदन-शीलता को सदा बढ़ावा देना चाहिए। यही वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों का मूल उद्देश्य होना चाहिए। अतः राय अपने विचार को प्रत्ययवाद तथा भौतिकवाद के विरोध से ऊपर उठाकर सत्यान्वेषण, क्रियाशीलता, एवं विचार-शक्ति का मार्ग प्रशस्त करना चाहते हैं। ऐसी शक्ति इनके अनुसार कभी तथा कहीं भी अन्वेषित हो सकती है। यही सत्यान्वेषण दर्शन एवं विज्ञान दोनों का साधन एवं साध्य है।

राय इस विचार को मानते हैं कि दर्शन एवं विज्ञान का कार्य मानवता के विकास में योगदान देना है। ज्ञानमीमांसा को भी राय इसका साधन मात्र मानते हैं। अतः राय की ज्ञानमीमांसा नवमानववादी या वैज्ञानिक मानववादी दर्शन का अंग है। ऐसी ज्ञानमीमांसा में राय के अनुसार प्रभुत्व सम्पन्न मानव की प्रगति निहित हैं। इनका यह विश्वास है कि कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जिसका अर्जन मनुष्य नहीं कर सकता है। अतः मनुष्य अपने भाग्य का विधायक स्वयं है। इसलिए राय की ज्ञानमीमांसा न भौतिकवादी है और न प्रत्ययवादी ही बल्कि मूलतः मानवतावादी है जिसे राय उग्र सुधारवादी मानवतावाद की संज्ञा देते हैं।

संदर्भ-सूची

1. पॉल एडवर्डस द्वारा सम्पादित द इनसायक्लोपीडिया ऑफ फिलासॉफी, खण्ड-3, पृ० 8-9.

2. जॉन हास्पर्स, इन्ट्रोडक्सन टु फिलॉसॉफिकल एनालिसीस, पृ०-180.
3. एन० भी० बनर्जी, द स्प्रीट ऑफ इंडियन फिलासॉफी, पृ०-12.
4. गौतम, न्याय सूत्र, 1·1·15.
5. वाचस्पति मिश्र, भामती, 1·1·4.
6. सर्व दर्शन संग्रह, तेभ्य एव देहाकार परिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मद शक्तिवच्चैतन्य मुपजायते । तेषु विनष्टेषु सत्सुस्वयं विनष्यति ।
7. न्याय भाष्य 111 2·46, 47, 50, 53, न्याय वार्तिक 111 2.55.
8. नन्द किशोर शर्मा, भारतीय दार्शनिक समस्यायें पृ०-19.
9. गंगा नाथ झा, प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमांसा, पृ०-28-33 तथा प्रभाकर, वृहती, पृ०-24.
10. जे० एन० मोहन्ती, गंगेशाज थ्योरी ऑफ ट्रुथ, पृ०-2.
11. डबल्यू० टी० स्टेस, ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलासॉफी, पृ० 340-343, 361 तथा 376.
12. बेनेडेट्टो क्रोचे, माई फिलासॉफी, एलेन ऐण्ड अनविन, लन्दन, 1951.
13. एम० एन० राय, साइन्स एण्ड फिलासॉफी, पृ० 180.
14. वही, पृ० 194.
15. एम० एन० राय, एन्ड फिलिप स्प्रैट, वियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमैनिज्म, पृ० 51.
16. एम० एन० राय, साइन्स एन्ड फिलॉसॉफी, पृ० 181.
17. एम० एन० राय एन्ड फिलिप स्प्रैट, वियोन्ड क्म्यूनिज्म टू ह्यूमनिज्म, पृ० 50.
18. एम० एन० राय, साइन्स एण्ड फिलॉसफी, पृ०-194.
19. वही,
20. वही, पृ०-195.
21. वही
22. वही, पृ० 196.
23. वही, पृ०-198.
24. वही,
25. एफ० एच० ब्रैडले, द प्रिन्सिपुल्स ऑफ लॉजिक, खण्ड-एक पृ०-94.
26. एफ० एच० ब्रैडले, एपियेरेन्स ऐन्ड रियलिटी, पृ०-321.
27. एम. एन. राय, साइन्स एण्ड फ़िलॉसॉफी, पृ०-198.
28. जॉन पैट्रिक डे, इन्डक्टिव प्रॉबेविलीटी, पृ०-29.

29. जे॰ एम॰ कीन्स, ए ट्रिटाइज ऑन प्रॉबेबिलिटी, पृ॰-245.
30. वहीं, पृ॰ 240.
31. एम॰ एन॰ राय, साइन्स एन्ड फिलॉसॉफी, पृ॰-198.
32. वही, पृ॰-199-200.
33. वहीं, पृ॰-203.
34. एम॰ एन॰ राय, रिज्न, रोमांटिसिज्म एन्ड रिव्योलूसन, खण्ड-2, पृ॰-26, ऐसे ही विचार राय एवं स्प्रैट द्वारा लिखित पुस्तक बियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमनिज्म के पृ॰-48 पर भी व्यक्त किये गये हैं।
35. एस॰ एन॰ राय, रेडिकलिज्म, पृ॰-79.
36. एम॰ एन॰ राय, रिज्न, रोमांटिसिज्म एन्ड रिव्योलूसन, खण्ड-2, पृ॰-286.
37. एम॰ एन॰ राय एन्ड पी॰ स्प्रैट, बियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमेनिज्म पृ॰-49.
38. वही, पृ॰-51-65.
39. वही, पृ॰-286.
40. वही, पृ॰-285.
41. एम॰ एन॰ राय, रिज्न, रोमांटिसिज्म एण्ड रिव्योलूसन खंड-1. पृ॰-13.
42. वही, पृ॰-15.
43. एम॰ एन॰ राय एण्ड, पी॰ स्प्रैट, बियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमेनिज्म, पृ॰-51.

अध्याय 3

एम० एन० राय के तत्त्वमीमांसीय विचार

अरस्तु ने अपनी पुस्तक मेटाफिजिक्स में जिन विचारों का प्रतिपादन किया है उनका सीधा सम्बन्ध ज्ञानानुराग से है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर उन्होंने इसे प्रथम दर्शन (फर्स्ट फिलासाँफी की संज्ञा दी है। यहाँ इन्होंने सत्ता की व्याख्या की है, सत् के स्वरुप, इसके सिद्धान्तों तथा इनके कारणों को स्पष्ट किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मेटाफिजिक्स वैसे विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं जहाँ जीवन एवं विश्व को उनकी समग्रताओं में समझने का प्रयास किया जाता है। सत् अथवा सत्ता का विवेचन तत्वमीमांसा के केन्द्र स्थल हैं। यही दर्शन के भी लक्ष्य विन्दु का काम करते हैं। इसी अर्थ में केयर्ड के कथन महत्व रखते हैं, "मानव अनुभूति का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, सत्ता के सम्पूर्ण क्षेत्र में ऐसी कोई बात नहीं है जो दर्शन से परे हो, अथवा जहाँ तक दार्शनिक अन्वेषण विस्तृत नहीं हो।"[1] इसका अर्थ यह नहीं है कि विश्व तथा जीवन के समग्र पहलूओं का अध्ययन दर्शनशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में आते हैं। इस अध्याय में दर्शन के वैसे प्रश्नों जिनका सीधा सम्बन्ध तत्वमीमांसीय प्रश्नों से है, पर विचार कर विश्व दर्शन में प्रचलित तत्वमीमांसीय विचारों का विवेचन करना है तथा इस आधार भूमि में एम० एन० राय द्वारा प्रतिपादित उग्र सुधारवादी मानवतावाद के तत्वमीमांसीय विचारों की व्याख्या करनी है। ऐसे प्रश्नों में मूल प्रश्न सत्ता एवं जगत से सम्बन्धित है। ऐसे ही प्रश्नों से तत्व विज्ञान, विश्वविज्ञान तथा ईश्वर विज्ञान जैसे विज्ञानों का विवेचन उपलब्ध हो पाया है।

तत्वविज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों में विश्व की उत्पत्ति में निहित आधारभूत तत्व का विवेचन सम्बन्धी प्रश्न हैं। ऐसे ही प्रश्नों में मूल तत्व के स्वरुप तथा उनकी संख्या का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर के क्रम में भौतिकवाद, अध्यात्म-वाद, द्वैतवाद तथा तटस्थवाद एवं एकत्ववाद, द्वैतवाद तथा अनेकत्ववाद जैसे सिद्धान्तों का विवेचन उपलब्ध है। भौतिकवाद के विकास का इतिहास बड़ा ही ज्वलंत रहा है। माइलेसियन दल के दार्शनिक थेलस, एनेक्जीमेन्डर, एनेक्जीमेनिश

जैसे विचारकों के विचारों में जड़ द्रव्य की अवधारणा के विकास का रुप देखने को मिलते हैं। थेल्स ने जल को मूल जड़ द्रव्य मानकर जगत की उत्पत्ति, एनेक्जीमेनिश ने वायु को जड़ द्रव्य मान कर जगत की उत्पत्ति तथा एनेक्जीमेन्डर ने निर्विशेष अपरिमेय तथा अनन्त जड़ तत्व को मूल भूत मान कर जगत की उत्पत्ति की व्याख्या की है। इसी प्रकार हेराक्लीटस के विचार में अग्नि, एम्पीडोकल्स के विचार में पृथ्वी, वायु, अग्नि तथा जल जैसे तत्वों की चर्चा की गई है तथा इनसे जगत की उत्पत्ति को स्पष्ट किया गया है। डेमोक्राइटस को ग्रीक भौतिकवाद को सर्वाधिक विकसित रुप देने का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने यह स्वीकार किया है कि मूल भूततत्व भौतिक परमाणु हैं जिनकी संख्या अनन्त हैं। इनमें कोई गुणात्मक भेद नहीं है बल्कि परिमाणात्मक भेद है। एपीक्यूरस का यद्यपि कोई विशिष्ट सिद्धान्त भौतिकवाद के सम्बन्ध में नहीं है भिर भी डेमोक्रेटस के सिद्धान्त को माने जाने के कारण और स्थूल सुखवाद का प्रति पादन करने के कारण इनके विचार को भौतिकवादी तत्वमीमांसा का आवश्यक परिणाम माना जाता है।

आधुनिक भौतिकवादी विचारकों में लामेत्री, हेकेल, बुकनर तथा कार्ल मार्क्स का नाम प्रमुख है। इनके विचारों में परमाणुवाद तथा विकासवाद के सिद्धान्तों को आधारस्वरुप स्वीकारा जा सकता है। इनकी यह मान्यता है कि विकास के क्रम में जड़ से जिनका अन्तिम रुप परमाणुओं का है से चेतन की उत्पत्ति हुई है। कार्ल मार्क्स को यह श्रेय प्राप्त है कि इन्होंने द्वन्द्वात्मक विकासवाद के द्वारा जड़ से चेतन की उत्पत्ति की व्याख्या की है। इनके अनुसार जड़ द्रव्य के विकास के क्रम में किसी एक स्तर पर परिमाण का गुण में परिवर्तन हो जाता है जिसके चलते जड़ द्रव्य से नये गुण जीवन तथा चेतन की उत्पत्ति हो जाती है। मार्क्स इसे गुणात्मक परिवर्तन का नियम कहते हैं। समसामयिक विचारों में भौतिकशास्त्रियों ने मुख्यतः स्वरुप विश्लेषण के द्वारा भौतिकवाद का समर्थन किया है। परमाणु में विश्वास रखने वाले इन भौतिकशास्त्रियों ने अब यह बतला दिया है कि अणु भी विभाज्य है तथा यह विधुत शक्तियों का पुंज है। ऐसे विचार की व्याख्या के क्रम में सर्वप्रथम इन लोगों ने अणु का विभाजन दो विधुत शक्तियों के रुप में किया है—एलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन। द्वितीय को ये घनात्मक विधुतशक्ति तथा प्रथम को ये ऋणात्मक विधुत शक्ति का रुप मानते हैं। प्रोटोन परमाणु के अन्दर केन्द्र का काम करता है जिसके इर्द-गिर्द इलेक्ट्रोन घूमते रहते हैं। अन्वेषण के क्रम में इन्होंने पुनः प्रोटोन का विश्लेषण सूक्ष्मतर विद्युत तरंगों के रुप में किया है तथा इन्हें न्यूट्रॉन एवं पाजीट्रॉन जैसी दो विद्युत शक्तियों का धाम माना है। अतः परम्परा के रूप में माने जाने

वाली जड़ द्रव्य की धारणा आज शक्ति के रुप में परिणत हो गई है, वैसी विद्युत-शक्तियों के पुंज के रुप में जिन्हें सामान्य इन्द्रियानुभव द्वारा जाना नहीं जा सकता।

भारतीय विचारधारा में भौतिकवाद की धारणा वेदों, उपनिषदों, चार्वाक, वैशेषिक तथा सांख्य जैसे दर्शनों में उपलब्ध है। चार्वाक दर्शन में यह माना गया है कि यह जगत पृथ्वी, जल, बायु और अग्नि इन चार प्रकार के तत्वों से बना है।[2] इन्हीं से जड़ और चेतन समस्त जगत की उत्पत्ति हुई है। जड़वादी होने के कारण चार्वाक शरीर से अलग किसी अप्रत्यक्ष और अमर आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करते। इनके अनुसार चेतन शरीर ही आत्मा है।[3] इनके अनुसार इन चार प्रकार के जड़तत्वों के संगठन से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार पान, सुपारी और चूने के योग से लाल रंग प्रकट होता है।[4]

इस प्रकार सांख्य एवं वैशेषिक दर्शनों में भी भौतिकवाद की स्पष्ट झलक मिलती है। सांख्य की तत्वमीमांसा बुद्धिवादी प्रकृतिवाद है क्योंकि चेतन पुरुष तथा अचेतन प्रकृति ही ऐसे दर्शन की आधारभूत मान्यतायें हैं। वैशेषिक दर्शन में विवेचित अणुवाद भौतिकवाद के ही उदाहरण है।

आज के भौतिकवादी विचारक वेदों तथा उपनिषदों की व्याख्या भी भौतिक-वादी धरातल पर करते हैं। इनके अनुसार वेदों में बतलाये गये बहु ईश्वरवादी धारणा में ईश्वर को वस्तुतः सशक्त प्रकृति की अभिव्यक्ति के रुप में स्वीकारा जा सकता है। इसी अर्थ में प्रोफेसर ब्लूम फील्ड ने लिखा है कि वेदों के अनेक ईश्वर अर्ध पुरुष के बोधक हैं जिनके अर्ध भाग प्रकृति के सक्रिय आकृति के बोधक हैं। ऐसे विचार का समर्थन कीथ[5] ने भी किया है। ऐसे विचारकों ने उपनिषदों में भी, विशेषकर मुण्डक उपनिषद में भौतिकवादी तथा अनीश्वरवादी विचारों का आभास देखा है। मुण्डक उपनिषद में लिखा गया है—"प्लव ह्येते अर्धयज्ञ रुपः अष्टदशोकल्म अवरमएषु कर्म एततश्रेयोयेभिनन्दति मुढ़ः ग्रमृत्युमतेपुनरवपियन्ते......"[6]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों में जगत की भौतिकवादी व्याख्या उपलब्ध है।

आध्यात्मवाद भौतिकवाद का विरोधी विचार है जहाँ मूल सत्ता को चेतन स्वरुप या आध्यात्म स्वरुप माना गया है। भौतिक पदार्थों की व्याख्या भी यहाँ आध्यात्म, प्रत्यय, मन अथवा आत्मा के द्वारा की गई है। ऐसे विचार के समर्थकों

में बर्कले, प्लेटो, हेगेल, ग्रीन, ब्रैडले तथा बोसांक्वेट का नाम उल्लेखनीय है। भारतीय विचारधारा में ऐसे विचार के समर्थक शंकर तथा रामानुज स्पष्ट रूप से हैं।

भौतिकवाद एवं आध्यात्मवाद दोनों द्वैतवाद में एक साथ मिलते हुये दिखाई देते हैं जहाँ चरम सत्ता को जड़ एवं चेतन दोनों का ही योग माना गया है। अरस्तु के द्वारा बतलाये गये आकार एवं वस्तु के बीच भेद, रामानुज के द्वारा बतलाये गये ईश्वर एवं ब्रह्म के बीच भेद इनके उदाहरण हैं।

तटस्थवाद इन तीनों से भिन्न विचार प्रकट करते हैं इनके अनुसार मूलसत्ता न तो जड़ स्वरुप है और न चेतन स्वरुप ही बल्कि दोनों से तटस्थ है। तटस्थ मौलिक तत्व से ही दोनों की उत्पत्ति होती है। ऐसे विचार में तटस्थ उपादान की संख्या अनेक माना गया है तथा इन्हीं तटस्थ उपादान से जड़ एवं चेतन की उत्पत्ति स्वीकारा गया है। स्पीनोजा के द्रव्यविचार तथा रसेल, ह्वाइटहेड तथा अलेकजेण्डर के विचारों में तटस्थवाद की झलक मिलती है। विलियम जेम्स तथा मैक को भी तटस्थवादी स्वीकारा गया है।

इसी प्रकार तत्व की संख्या को लेकर भी एकत्ववाद, द्वैतवाद तथा अनेकत्ववाद के विचार तत्व विज्ञान में प्रचलित हैं। जहाँ तक विश्वविज्ञान का प्रश्न है इसके सम्बन्ध में कई धारणायें प्रचलित हैं जिनमें सृष्टिवाद तथा विकासवाद प्रमुख है। सृष्टिवाद के अनुसार यह जगत सृष्टि की देन है जबकि विकासवाद सृष्टिवाद का विरोध करता है तथा इस जगत को विकास की प्रक्रिया का परिणाम मानता है। भारतीय दर्शन में सृष्टिवाद का उदाहरण प्रचलित है किन्तु सांख्य विकासवाद में विश्वास करता है जबकि शंकर विवर्तवाद के समर्थक है। पाश्चात्य दर्शन में विकासवाद के सिद्धान्त का समर्थन स्पेन्सर, अलेकजेण्डर, बर्गसॉ, तथा डार्विन करते हुये दीखते हैं।

इसी प्रकार ईश्वर विज्ञान में ईश्वर के माध्यम से विश्व के उत्पत्ति की व्याख्या की गई है। एकेश्वरवाद, द्वैतेश्वरवाद तथा अनेकेश्वरवाद ऐसे प्रश्न के उत्तर देने में समर्थ है। जहाँ तक ईश्वर एवं विश्व के साथ सम्बन्ध की बात है तटस्थ ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, ईश्वरवाद तथा आन्तरातित ईश्वरवाद इसका विवेचन प्रस्तुत करते हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों में इसके भरपूर उदाहरण देखने को मिलते हैं।

इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि में यह आवश्यक है कि अतीत एवं बर्तमान तत्वमी-

मांसीय विचारों का संक्षिप्त सर्वेक्षण उपस्थित किया जाय। तत्वमीमांसा के अर्थ एक शताब्दी से दूसरे शताब्दी में तथा एक दार्शनिक से दूसरे दार्शनिकों में भिन्न भिन्न रहे हैं।[7] इस भिन्नता के बावजूद भी तत्वमीमांसकों ने इसे सत्ता के अध्ययन का शास्त्र माना है। ऐसे अध्ययन में अनुभवातीत सत्ता का भी ज्ञान निहित है। अनेक अध्ययनों के बीच यह स्वीकार किया जाता रहा है कि ऐसे सत्ता को विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक बिधि के द्वारा तत्वमीमांसक जानने की चेष्टा करते हैं। इसकी आधारभूमि अनुभूति हुआ करती है। इस अर्थ में आध्यात्मिक प्रत्यक्षीकरण या दर्शन का भी महत्व है। यद्यपि तत्वमीमांसा के विरोध में तार्किक भाववाद जैसे विचार देखने को मिलते हैं जहाँ इसके तथ्यों की निरर्थकता सिद्ध की गई है फिर भी इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन के प्रति जगत के प्रति तथा सत्ता के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होते हैं। ऐसे दृष्टिकोण को तत्वमीमांसा विरोधी विचारक भी अस्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में तत्वमीमांसा के विरोधी विचारों में भी इसका भाव देखा जा सकता है। इस दृष्टि से मानवेन्द्र नाथ राय के उग्र सुधारवादी मानवतावाद के तत्वमीमांसीय विचारों को देखा जा सकता है। ऐसे विचार मुख्यत: आत्मा या चेतना, ईश्वर तथा जगत के परिप्रेक्ष्य में देखे जा सकते हैं।

एम० एन० राय का उग्र सुधारवादी मानवतावाद भौतिकवाद के समीक्षात्मक विवेचन का प्रतिफलित रुप है। कार्ल मार्क्स के विचारों में असीम आस्था होने के कारण राय यह मानते हैं कि दर्शन का कार्य पवित्र चिन्तन नहीं है और न निष्क्रिय अनुचिन्तन ही बल्कि इसका कार्य वस्तुयें जिस रुप में हैं उन्हें उसी रूप में जानना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति में निहित विभिन्न प्राकृतिक उपादानों की सामान्य उत्पत्ति की व्याख्या करना ही दर्शन का कार्य है।[8] दर्शन के इस कार्य को करने में राय भौतिकवाद की समर्थता को स्वीकारते हैं क्योंकि इनका यह विश्वास है कि भौतिकवादी आधारशिला पर ही नये जगत का निर्माण संभव है।

राय के अनुसार भौतिकवाद एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त ही नहीं बल्कि जगत के विभिन्न दर्शनों का मूल आधार हैं। ऐसे दर्शन की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, "दर्शन की शुरुआत तब हुई जब प्राकृतिक उपादानों में निहित अनेक ईश्वरों की कल्पना एवं आराधना में रत आदिम स्वाभाविक धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की संतुष्टि नहीं कर सकें।"[9] राय के अनुसार यह वस्तुत: प्राकृतिक धर्म में विश्वास करने वाले मानवता की बौद्धिक अवनति का बोधक है। इनके अनुसार ऐसे दर्शन सत्य की ओर नहीं ले जाते बल्कि स्वप्न की ओर ले जाते हैं। ऐसे दर्शन

मानवता को ज्ञान की ओर न ले जाकर विपर्यय की ओर ले जाते हैं। इनकी दशा वैसी ही रहती है जिस प्रकार अशुभ आत्मा द्वारा प्रभावित भूखा जानवर इधर उधर दौड़ लगाता रहता है किन्तु ईर्द-गिर्द फैले हुये हरे खेतों को नहीं चरता। यही कारण है कि राय इनके पूरातन में जाकर इनके व्यावहारवादी तथा भौतिकवादी श्रोतों की खोज करते हैं।

राय के अनुसार जीवन की आवश्यकतायें ही मनुष्य को प्रकृति की ओर आकृष्ट करती है तथा अस्तित्व के लिए संघर्ष उन्हें प्राकृतिक जगत पर निर्भर करने को बाध्य कर देता है। अतः राय आध्यात्मवादी दर्शन की उत्पत्ति उपयोगितावादी आधारों पर मानते हैं। इनकी जड़ में कारणिक सिद्धान्त कार्य करते हैं। अतः राय के अनुसार वास्तविक दर्शन भाववादी जिज्ञासा से प्रारम्भ होते हैं, वैसी जिज्ञासा से जो प्राकृतिक उपादानों के कारणों को जानने के क्रम में उत्पन्न होती है। ऐसी जिज्ञासा की उत्पत्ति वर्ग सम्मत समाज में सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसे समाज में आर्थिक अभि-रूचियों के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है। ऐसे संघर्ष पुरोहिती वर्ग एवं अपूरोहिती वर्गों के बीच देखा जाता है जहाँ पूरोहितों के सुखदाई स्थान को चुनौती दी जाती है और यहीं से भौतिकवादी दर्शन का प्रारम्भ होता है।

इससे स्पष्ट है कि राय के अनुसार भौतिकवाद का जन्म सामान्य एवं स्वा-भाविक होता है। यह मनुष्य में विश्वास को जाग्रत करता है जिससे वह अस्तित्व के लिए होने वाले संघर्ष में विजय प्राप्त करता है। इस अर्थ में राय यह मानते हैं कि मनुष्य की जन्मजात आध्यात्मिकता की विकृति का नाम भौतिकवाद नहीं है बल्कि यह मनुष्य की शक्ति के विकास का स्वाभाविक फल है। जहाँ वह प्रारम्भिक अज्ञान से, सिद्धान्तों की कृत्रिम बाधाओं से या तत्वमीमांसा के अंधविश्वास से मुक्त होता है।[10] भारत में राय ऐसे विचार की उत्पत्ति वेदों में निहित स्वाभाविक धर्म से मानते हैं। इनका यह विश्वास है कि बौद्ध दर्शन के ह्रास के पूर्व भारतीय दर्शन का उत्स आध्यात्मिक न होकर स्वाभाविक है। वेदों, उपनिषदों तथा अन्य भारतीय दार्शनिक पद्धतियों का उदाहरण उपस्थित करते हुए राय यह बतलाते हैं कि किस प्रकार भारत में भौतिकवाद तथा अनीश्वरवाद का बोलबाला था। वैदिक धर्मों के प्रति प्रारम्भिक वेदों में तथा उपनिषदों में असंतोष का भाव देखा जाता है। मुण्डक उपनिषद का उदाहरण उपस्थित करते हुए ये बतलाते हैं कि यज्ञों एवं यज्ञ विधानों में ऐसे वैदिक धर्मों के प्रति विरोध देखा जा सकता है। इसी प्रकार ऋगवेद में इन्द्र के अस्तित्व को ही अस्वीकारा गया है ऐसी बातें श्वेताश्वेतर उपनिषद में भी देखने

को मिलते हैं । इस प्रकार राय यह बतलाते हैं कि उपनिषदों में न केवल अज्ञेयवादी, स्वभाववादी तथा बुद्धिवादी विचारों के सूत्र मिलते हैं बल्कि यहाँ अनीश्वरवाद एवं भौतिकवाद की भी मान्यता देखी जाती है ।[11]

राय के अनुसार वैशेषिक दर्शन तो भौतिकवाद का ही प्रवर्त्तक है । कणाद के द्वारा समर्थित अणुवाद के सिद्धान्त यह बतलाते हैं कि जगत की प्रत्येक चीजें अंशों में बने होते हैं जिनका नाम अणु है । ये अंशविहिन एवं अविभाज्य होते हैं । न्यायसुत्र में गौतम ने[12] इसे 'परमवात्रुतेह' कहा है । इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र में कणाद ने इसे नित्य माना है—'नित्यम परिमन्दलम' ।[13] इससे यह स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक दर्शन बहुत हद तक भौतिकवादी ही है ।

सांख्य दर्शन भी भौतिकवाद का उदाहरण है । कपिल के सांख्य दर्शन का विवेचन करते हुए राय लिखते हैं कि इन्होंने पूर्ण भौतिकवादी आधार से अपने को अलग रखने का प्रयास किया है तथा बुद्धिवादी स्वाभाववादी तत्वमीमांसा को अपनाने का प्रयास किया है । तो भी भौतिकवाद के भौतिक सिद्धान्तों का दार्शनिक विवेचन कपिल ने किया है ।[14] इसका समर्थन देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने भी किया है तथा बतलाया है कि सांख्य दर्शन की उत्पत्ति वेद-विरोधी विचारों के फलस्वरूप हुआ है । इनके अनुसार ब्रह्म कारणवाद तथा प्रधान कारणवाद के बीच का भेद वस्तुतः ब्रह्मसूत्र एवं सांख्य के बीच का भेद नहीं है बल्कि आध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद के बीच का है । राय के अनुसार कपिल ने अणु के परे जाकर जो चरम तत्व की खोज की है यह तत्व की अत्यन्त ही आधुनिक धारणा है जिसे भौतिकवाद का विरोधी नहीं कहा जा सकता ।[15]

चार्वाक दर्शन तो भौतिकवादी दर्शन है ही जहाँ स्वाभाववादी, बुद्धिवादी, संशयवादी, अज्ञेयवादी तथा भौतिकवादी विचारों की चरमपरिणति देखने को मिलती है ।[16] चार्वाक दर्शन में जड़ पदार्थ को चरम सत्ता माना गया है तथा इसके माध्यम से ही जगत की व्याख्या की गई है । बौद्ध एवं जैन दर्शनों में ब्राह्मणों द्वारा चलाई गई पूरोहित प्रथा के प्रति विद्रोह देखने को मिलते हैं । इनका शून्यवाद के प्रति विद्रोह भौतिकवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं । मनुष्य को एवं मानवीय शक्ति को प्रधानता देने के कारण बहुत हद तक ऐसे बिचार को भौतिकवादी एवं बुद्धिवादी विचार की संज्ञा दी जा सकती है । इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में तथा मनु जैसे धर्म के नियमों के संस्थापकों में भौतिकवादी प्रवृति का भाव देखा जा सकता है ।

भौतिकवाद के समक्ष सबसे बड़ी समस्या चेतना की व्याख्या करना है। चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म पर किसी न किसी रूप में आस्था प्रकट की गई है। राय ने ऐसे विचार का खंडन किया है तथा बताया है कि ऐसे विचार का कोई औचित्य नहीं है।

कभी-कभी आत्मा के पुनर्जन्म में आनुभविक आधार पर आस्था प्रकट की जाती है। उदाहरण के लिए किसी-किसी बच्चे को रखा जाता है कि जो अपने भूत-काल के जीवन को याद कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा के पुनर्जन्म के दावों को आनुभाविक सत्यापन के आधार पर सिद्ध किया जाता है। राय आनुभविक तथ्यों के निरीक्षण पर निर्मित सामान्य नियम को वैज्ञानिक प्रक्रिया मानते हैं। राय के अनुसार धर्म के तथ्यों को वैज्ञानिक एवं बौद्धिक विचार के आधार पर अस्वीकार किया जाना उनके (धर्म के) आन्तरिक विरोधों के कारण संभव हो पाता है। जब कभी भी कोई सत्यापन हो पाता है तो उसकी यथार्थता हेत्वाश्रित होती है। यही बात आत्मा के पुनर्जन्म के साथ भी है। जहाँ तक पूर्वजन्म की बातों को याद रखने के विचार हैं वहाँ ऐसे विचार का आधार यह है कि स्मृति मृत्यु के उपरान्त भी अक्षुण रहती है। राय यह मानते हैं कि ऐसे विचार आत्म विरोधी हैं क्योंकि स्मृति एक जैविक कार्य है जो हमें अस्तित्व के संघर्ष में सहायता पहुँचाती है। इसी प्रकार स्मृति चिह्नों को मस्तिष्क में उभरते हुए माना जाता है तथा इसे शारीरिक उपकरण का अंग माना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि मृत्यु के उपरान्त मस्तिष्क ही विनष्ट होता जाता है तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि स्मृति अक्षुण रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा के पुनर्जन्म की बात ठोस आधार पर आधारित नहीं हो पाती। ऐसी मान्यता को राय एक विलक्षण प्रक्रिया मानते हैं, वैसी प्रक्रिया जिसमें जिस डाल पर आदमी बैठा रहता है उसी को काटता है, की तरह है।[17]

राय भौतिकवादी दृष्टिकोण से भी इस पर विचार करते हैं तथा बताते हैं कि यह सही ही है कि भौतिक पदार्थ विनष्ट नहीं होते, मृत्यु से जड़ तत्व विनष्ट नहीं होता बल्कि जड़ तत्व के आकारिक संगठन विनष्ट होते हैं। वैसे लोग जो मृत्यु के उपरान्त सूक्ष्म शरीर के बच जाने की बात करते हैं वे यह बतलाते हैं कि जड़ तत्व का संगठन मृत्यु के बाद भी बचा रह जाता है जो असंभव है।

इन तथ्यों के आधार पर राय यह मानते हैं कि आध्यामवाद हमारे पिछड़ेपन

एवं भय का बोधक है। अतः भविष्य में उन्नति करने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने पूर्वाग्रहों से मुक्ति पाये। अतः राय भारतवासियों को यह संदेश देते हैं कि उन्हें यह जानना चाहिए कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। कर्म, भाग्य, पुनर्जन्म, अमर आध्यात्मिक सारतत्व, ईश्वर की दया जैसे विचार मरे हुए अतीत के पिशाचों की तरह हैं।[18]

इसी प्रकार रहस्यमय अनुभूति के महत्व को पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों ने भी स्वीकारा है। ऐसे विचारकों में हेगेल, ल्यूबा, कोय जैसे पाश्चात्य विचारक आते हैं। भारतीय विचारकों की तो यह विशिष्टता ही है कि वे रहस्यात्मक अनुभूति में विश्वास करते हैं। राय ऐसे विचार को मनोरोगग्रसित मानते हैं। इनके अनुसार रहस्यमय धार्मिक अनुभूति पूर्व निर्धारित धारणा की उपज होती है तथा यह स्वत: सम्मोहन जैसी रहस्यानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[19]

इस प्रकार राय अपने तत्वमीमांसीय विचारों में आध्यात्मवाद का खण्डन करते हैं तथा भौतिकवाद को एक मात्र तत्वमीमांसीय सिद्धांत के रूप में स्वीकारते हैं।

राय के तत्वमीमांसीय विचारों में उनके जगत विचार भी प्रमुख स्थान रखते हैं। अपने जगत विचार को वे 'कॉसमोलॉजी' शब्द द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। 'कॉसमोलॉजी' का अर्थ सामान्यतया जगत के क्रम से लगाया जाता है क्योंकि यह शब्द 'कॉसमॉस' शब्द से बना हुआ है जिसका अर्थ क्रमबद्ध जगत की धारणा से है। अतः यह जगत की वैसी धारणा का विरोधी है जो क्रमभंग अथवा क्रमविहिन जगत की चर्चा करता है। अतः 'कॉसमोलॉजी' वैसे बौद्धिक प्रयास के बोधक हैं जो प्रकृति के चरम समस्याओं का विवेचन करते हैं। इसी अर्थ में टेलर[20] ने इसे भौतिक अस्तित्व का वैज्ञानिक अनुचिन्तन कहा है। अतः राय ऐसे क्रमबद्ध जगत की व्याख्या करते हैं। राय के अनुसार बौद्धिक होने का अर्थ कारणिक नियम में विश्वास करना है तथा मानना है कि कोई भी घटना अकारण नहीं घटती है। राय के अनुसार कारणिक नियम द्वैतवाद के दोष से मुक्त होते हैं तथा मानते हैं कि यह अनुभविक धारणा नहीं है बल्कि तार्किक धारणा है।[21] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय कारणिक नियम की वाध्यता में विश्वास करते हुए क्रमबद्ध जगत की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं। इनकी यह मान्यता है कि जगत में एक बौद्धिक नियम कार्य करते रहते हैं। इसी बौद्धिक नियम के कारण जगत की क्रमबद्धता को स्वीकारा जा सकता है। जैसा कि वे लिखते भी हैं,

"भौतिक जगत नियमों द्वारा शासित होते हैं, कुछ भी अकारण नहीं घटती है, यह बौद्धिक है। अतः हम बुद्धि को भौतिक जगत में निहित मानते हैं।[22] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय के अनुसार जगत को नियमों द्वारा शासित मानने का अर्थ है उन्हें बौद्धिक मानना।

राय नियमों द्वारा अनुशासित जगत तथा धार्मिक चिन्तन के बीच भेद करते हैं तथा बतलाते हैं कि नियमों द्वारा शाशित जगत में कोई वाह्य हस्तक्षेप नहीं देखा जाता जबकि धार्मिक चिन्तन में वाह्य शक्ति का हस्तक्षेप देखा जाता है। ऐसी बाह्य शक्ति आलोकिक सत्ता के बोधक है जहाँ यह माना जाता है कि यह जगत ईश्वरीय शक्तियों द्वारा शासित है। यद्यपि दोनों के बीच विरोध लगता है किन्तु राय यह मानते हैं कि इनका आन्तरिक विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के बीच की विभाजक रेखा है ही नहीं। यह तभी संभव है जब यह माना जाय कि मनुष्य अनिवार्यतः विवेकशील प्राणी है। इस सम्बन्ध में राय लैन्ग जैसे धर्म दर्शन के विचारकों की उक्ति का उद्धरण देते हैं जहाँ लैन्ग मानते हैं कि ईश्वर के विचार तथा आत्मा के विचार आदिम दोषपूर्ण तर्क के फल हैं जहाँ अनुभूति को गलत अर्थ में समझा गया है। अतः यदि इस अर्थ में धार्मिक चिन्तन को समझने की चेष्टा की जाय तो नियमों द्वारा शासित जगत तथा धार्मिक चिन्तन के बीच कोई भेद नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में अन्तिम कारण की तत्व-मीमांसीय धारणा बौद्धिक धारणा हो जाती है जिसे धार्मिक विश्वास का भी गुण माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में विज्ञान एवं धर्म के बीच कोई भेद नहीं बच पाता बल्कि दोनों ही मनुष्य के एक ही आवेगों की अभिव्यक्तियों के रूप में रह जाते हैं। ऐसे आवेगों जो जन्मजात विवेक अथवा स्वतंत्रता का आवेग कहा जा सकता है।

धार्मिक जगत विचार में ईश्वर को जगत का अन्तिम नियन्ता माना जाता है। राय इसे स्वीकार नही करते। इनके अनुसार यह जगत आत्मनिहित एवं आत्मशासित है। इसकी व्याख्या के लिये किसी भी अभौतिक शक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है। अपने इस विचार को वे भौतिकवाद के नाम से स्पष्ट करते हैं तथा इसे ही वे वैज्ञानिक मानवतावाद की भी संज्ञा देते हैं क्योंकि इनके अनुसार ऐसे मानवतावाद विज्ञान की शाखाओं के निष्कर्षों से परिपूर्ण हैं। राय ने बहुत जोरदार शब्दों में यह स्वीकार किया है कि भौतिकवाद के अतिरिक्त किसी अन्य दर्शन की संभावना है ही नही। अतः इन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा है कि मानव समाज के उदय के साथ जितने भी दार्शनिक पद्धतियों की रचना हुई है

तथा जिन्हें विचार के इतिहास में स्थान मिला है, वे अनिवार्यतः भौतिकवादी हैं।[23]

भौतिकवाद के सम्बन्ध में राय विकृत विचारों की भी चर्चा करते हैं तथा मानते हैं कि जो लोग भौतिकवाद का अर्थ 'खाओ-पीओ मौज करो' बतलाते हैं वे अज्ञान के घेरे में हैं। ऐसे लोग इसे अशुभ एवं अभद्र वस्तुओं के साथ साहचर्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। राय ऐसे विचार को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि भौतिकवाद की इतनी गलत व्याख्या की गई है, इसके इतने अभद्र रूप को स्पष्ट किया गया है कि जिस क्षण कोई व्यक्ति अपने को भौतिकवादी कहता है उसे लोग बिना नैतिकता, बिना सिद्धांत के गला काटने वाले के साथ तादात्म्य कर देते हैं।[24] ऐसी स्थिति को राय दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। यही कारण है कि वे भौतिकवाद के बदले दूसरे शब्द का प्रयोग करना उचित समझते हैं। ऐसे भौतिकवाद को वे भौतिक वस्तुवाद (फीजीकल रियलिज्म) कहना श्रेयस्कर समझते हैं। ऐसे ही विचार को उन्होंने अन्य अवसरों पर भी उपस्थित किया है तथा उसे एकतत्ववादी प्रकृतिवाद (मॉनिस्टिक रियलिज्म) भी कहते हैं। राय का यह विचार वस्तुतः उनके गहन अध्ययन एवं परिपक्व अनुभव की देन है। ऐसे विचार को वे पूर्ण सच्चाई के साथ उपस्थित करना चाहते हैं किन्तु साथ ही साथ वे यह भी शंका उपस्थित करते हैं कि ऐसे नामकरण से कभी-कभी कठिनाई उत्पन्न हो जा सकती है। अतः ये अपने भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए बतलाते हैं कि यह जगत की वैसी व्याख्या है जहाँ किसी प्रकार की अलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता है। यह व्याख्या जगत की एक तत्व वादी व्याख्या है जो प्रत्येक वस्तु का आधार है। इसे अस्तित्व की संज्ञा दी जा सकती है जो सारे विचारों, वस्तुओं, प्रत्ययों, जड़तत्व तथा चेतना का आधार है।

राय अपने इस विचार को दृढ़ रूप देने में नवीन भौतिकी में निहित जगत विचार की चर्चा करते हैं तथा बतलाते हैं कि ऐसे विचार में यह कहा जा सकता है कि क्रमबद्ध जगत विचार अथवा तत्वमीमांसा अथवा जीवन दर्शन के रूप में भौतिकवाद को विज्ञान की स्वीकृति नहीं है। इस प्रकार ऐसे विचार का विरोध विज्ञान की ओर से ही है। इसी संदर्भ में भौतिकी द्वारा कारणवाद के सिद्धान्त की भी अवहेलना देखी जाती है। प्रमुख भौतिकशास्त्री एस्क्रोडिन्गर, हेजनबर्ग, डिरैक्ट तथा एडिन्गटन भी ऐसे विचार के साथ अपना मत प्रकट करते हैं। इस समस्या के समाधान के क्रम में राय क्लासिकल भौतिकी तथा नव-भौतिकी के बीच भेद करते हैं तथा नव भौतिकी के क्लासिकल भौतिकी पर प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखते हैं, "तोलनीय अथवा अनुभवगम्य जड़तत्व की समाप्ति हो गई है। नव-

भौतिकी द्वारा विवेचित जगत वैसे क्षीण पदार्थ से बने हुए हैं जो जड़ तत्व एवं ऊर्जा के बीच की सीमा रेखा में परिभ्रमण करते हैं। इस दुर्गाह्य वस्तु की साकार इकाईयां दिक् में सरल रूप से स्थित नहीं होती हैं और न काल में तारतम्य ही होते हैं, ये बाध्यता की अवहेलना करते हुए दीखते हैं। यदि बाध्यता समाप्त हो जाती है तो जगत की यन्त्रवादी धारणा भी अवश्य ही समाप्त होगी।"[25] इसी प्रकार राय यह बतलाते हैं कि दिक्, काल, गति, आकाश, गुरुत्वाकर्षण आदि की धारणायें भी पुर्णतः परिवर्तित हो गई हैं। इस दृष्टि से भौतिकवाद को सबसे अधिक धक्का गाणितिक भौतिकी द्वारा लगा है। इस संदर्भ में वे हार्ट्स तथा मैक्सवेल का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा बतलाते हैं कि इन लोगों के विचार के साथ लोगों ने यह समझ लिया कि भौतिकवाद का खंडन पूर्ण हो गया है। ऐसे विचार का आधार यह है कि विज्ञान के नियम अन्तिम एवं निरपेक्ष होते हैं। राय के अनुसार यह गलत धारणा है। विज्ञान में न तो निरपेक्षता देखी जाती है और न अन्तता यह तो सदा प्रगतिशील रहता है। अतः यह मानना कि बाद के युग की धारणा पूर्व के युग की धारणा असत्य सिद्ध कर देती है, गलत है। सत्य तो यह है कि जो नियम पहले रहते हैं वे उस युग के लिये सत्य रहते हैं तथा नये नियम अपने समय की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। अतः वे अपने-अपने युगों में प्रकृति के नियमों के साथ सामीप्य के बोधक होते हैं।[26]

इसी प्रकार यह सोचना भी निराधार है कि नये भौतिकी ने जड़ तत्व को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया है बल्कि यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि नवीन भौतिकी ने जड़ की धारणा में काफी परिवर्तन लाया है। इस प्रकार नवीन अनुसंधानों से पूर्व के अनुसंधानों की अपूर्णता सिद्ध होती है उसकी अस्वीकारोक्ति नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नये विज्ञान से भौतिकवाद के नये ज्ञान तथा नई सूचना हमें मिल पाती है। अतः राय यह मानते हैं कि नवीन भौतिकी में क्रमवद्ध प्रकृति या जगत की अस्वीकारोक्ति नहीं है। इसके विपरीत यह सिद्ध कर देता है कि भौतिकवाद ही एक मात्र सुसंगत दर्शन है जहाँ यह माना जाता है कि अ-भौतिक कर्त्ताओं का हस्तक्षेप इस भौतिक जगत में नहीं है। जब कभी भी मानव मन अज्ञात क्षेत्रों में पैठने का प्रयास करता है तो आध्यात्मवादी पूर्वाग्रह आ ही जाते हैं क्योंकि वैसी स्थिति में ऐसा लगता है कि नवीन अन्वेषण सम्भव ही नहीं है। राय इसे अज्ञान का फल मानते हैं। इनके अनुसार जितने भी ज्ञान हम प्राप्त कर लिए होते हैं उससे आगे बढ़ने में अक्षम होने के कारण ऐसी स्थिति हमारे बिचार में आ जाते हैं।

इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में राय अपने सबसे महत्वपूर्ण तत्वमीमांसीय विचार की स्थापना करते हैं जिसे वे जड़ तत्व की संज्ञा देते हैं। सामान्यतया यह कहा जाता है कि भौतिकवाद भौतिक तत्व को चरम सत्ता तो मानता है किन्तु वह आत्मा अथवा चेतना की उत्पत्ति की व्याख्या करने में असमर्थ होता है। इसे और अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित करने के क्रम में कहा जा सकता है कि भौतिकवाद जीवन तत्व अथवा चेतना की व्याख्या जड़ तत्व के आधार पर सैद्धांतिक रूप से तो कर पाता है किन्तु ऐसे विचार में व्यावहारिकता का अभाव देखा जा सकता है। राय भी इस आक्षेप से पूर्णतः अवगत हैं। इनके अनुसार निश्चित रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा जीवन की प्रथम उत्पत्ति की सैद्धान्तिक व्याख्या तो की जा सकती है किन्तु इसे प्रायोगिक धरातल पर उपस्थित नहीं किया जा सकता। अतः इसकी व्याख्या राय के अनुसार अपेक्षित है।

विभिन्न अस्तित्वों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार की व्याख्यायें देखी जाती है। प्रथम को हम अलौकिक व्याख्या कहते हैं जिसके आधार पर सृष्टिवाद की व्याख्या की जाती है। दूसरे को वैज्ञानिक व्याख्या कहा जा सकता है जिस पर विकासवाद का सिद्धांत आधारित है। एक सच्चे भौतिकवादी की तरह राय प्रथम व्याख्या को अस्वीकार करते हैं तथा दूसरी व्याख्या में अपनी घोर आस्था व्यक्त करते हैं।

सृष्टिवाद के अनुसार इस पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति नैसर्गिक संकल्प के रचनात्मक क्रियाओं द्वारा हुई है। यहाँ यह विश्वास किया जाता है कि एक विशेष क्षण में ईश्वर ने एक विशेष आज्ञप्ति जारी कर इस पृथ्वी पर प्रत्येक प्रकार के जीवों की सृष्टि की है। इसी दृष्टि से ईश्वर को इस जगत का प्रथम कारण माना गया है। यह स्वाभाविक ही है कि सृष्टि की ऐसी धारणा वैज्ञानिकों को अपील नहीं करती है तथा वे ऐसे सिद्धांत में अनेक प्रकार की विषमताओं की चर्चा करते हैं। राय इन विषमताओं में से कुछ का विवेचन करते हैं। राय के अनुसार ऐसे विचार की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह स्वयं अपने को खंडित करते हैं। अतः सृष्टिवाद की इन त्रुटियों पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

सृष्टिवाद की सबसे प्रमुख त्रुटि यह कही जा सकती है कि यद्यपि वह ईश्वर को इस जगत का सृष्टिकर्त्ता स्वीकार करता है किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए वह कोई ठोस प्रमाण उपस्थित कर पाने में असफल रहता है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयास में सृष्टिवादी विचार जितने भी प्रमाण

उपस्थित करता है वे बौद्धिक विवेचना के उपरान्त खण्डित हो जाते है। इस प्रकार अन्तत: ईश्वर के अस्तित्व को आस्था का विषय स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु आस्था कोई ऐसी वैज्ञानिक आधार शिला नहीं है जो मनुष्यों के विवेक को संतुष्ट कर सके।

फिर यदि एक क्षण के लिये ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार भी कर लिया जाय तो सृष्टिवादी विचारधारा में ईश्वर द्वारा जिस तरह जगत की सृष्टि की बात कही गई है वह तार्किक दृष्टिकोण से सिद्ध नहीं हो सकता। सृष्टिवाद यह स्वीकार करता है कि ईश्वर ने जगत की सृष्टि शून्य से की है किन्तु शून्य से तो कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार सृष्टिवाद कभी यह भी मानता है कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि अपने ही अन्दर के उपादान से की है और जगत ईश्वर का ही अंग है। परन्तु ऐसे विचार को स्वीकार कर लेने पर ईश्वर में जगत के सभी प्रकार के अशुभों एवं पापों का आरोपण हो जाता है चूँकि ये सभी उसी के अंग हो जाते हैं।

सृष्टिवाद के सम्बन्ध में एक और प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि यदि जगत की सृष्टि ईश्वर ने की, तो ईश्वर की सृष्टि किसने की ? इसके उत्तर में सृष्टिवादी ईश्वर को अनादि तथा अजन्मा बतलाते हैं। किन्तु तब यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर को अनादि और अजन्मा माना जाय तो क्यों नहीं जगत को ही अनादि और अजन्मा मान लिया क्यों कि जो बात ईश्वर के सम्बन्ध में लागू हो सकती है वहीं बात जगत के सम्बन्ध में भी लागू हो सकती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टिवाद स्वयं अपने आप का विरोध करता है तथा तार्किक दोष से सम्बद्ध हो जाता है। राय इसे स्पष्ट करते हुये लिखते हैं, "अन्तिम कारण की खोज का अन्त अनावस्था दोष में अवश्यमभावी है। इस का कोई कारण नहीं है कि हम ईश्वर को अन्तिम कारण मान कर वहीं रूक जायें। ऐसा मानने का अर्थ है कि कारणिक नियम को ही छोड़ देना।"[27]

इसी प्रकार सृष्टिवादी विचार में ईश्वर के गुणों जैसे सर्व शक्तिमान, सर्व शुभ, दयालु, पूर्ण आदि के सम्बन्ध में भी शंका उत्पन्न हो जाती है कि यदि ईश्वर इन सारे सद्गुणों से युक्त है तो उसने ऐसे जगत की सृष्टि क्यों कि जो अपूर्ण तथा अनेक प्रकार के अशुभों से भरा है ? यदि वह इससे बेहतर जगत की रचना नहीं कर सकता था तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है और यदि ऐसी क्षमता होने पर भी उसने अपूर्ण एवं अशुभों से पूर्ण जगत की रचना की है तो इसका अर्थ यह है कि वह सर्व शुभ और दयालु नहीं है। इस प्रकार सृष्टिवादी विचार में व्यक्त ईश्वर के विचार बौद्धिक व्यक्ति के हृदय में अनेक प्रकार की शंकायें उत्पन्न कर देते हैं।

सृष्टिवादी विचार में जगत की विविधता और भेद को मौलिक मान कर विघटन, स्वार्थ आदि की प्रवृति को प्रश्रय पाते हुये देखा जा सकता है जो जगत के विभिन्न समाजों के विकास के लिये सहायक नहीं है। इसके विपरीत विकासवादी विचार में विविधताओं में मौलिक एकत्व की बात स्वीकार की जाती है। इस प्रकार यह विचार कि सभी जीवों की उत्पत्ति मौलिक रूप में एक 'जीव कोष से हुई है साधारण लोगों के मन में सभी प्राणियों के प्रति दया, प्रेम आदि का भाव उत्पन्न करने में सहायक हो सकता है। अत: सृष्टिवाद की अपेक्षा विकासवादी विचार नैतिकता के प्रति अधिक सहायक प्रतीत होते हैं। फिर सृष्टिवाद जगत को मौलिक रूप से अपरिवर्तनशील मानता है। परन्तु साधारणतया व्यावहारिक अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत सतत परिवर्तनशील और विकासशील है।

इन दोषों के अतिरिक्त जगत के भू-आकृति विज्ञान के आधार पर भी सृष्टिवाद के असत्याभास का पता चल पाता है। विज्ञान यह मानता है कि पृथ्वी बहुत दिनों तक जीवों के रहने लायक नहीं थी। इसलिये जीवों का सदा से पृथ्वी पर होने पर सोचा नहीं जा सकता। राय वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर यह बतलाते हैं कि जगत का इतिहास ही यह कहता है कि अकार्बनिक जीव पृथ्वी पर शाश्वत काल से अस्तित्ववान नहीं हैं। एक विशेष अवस्था में भौतिक विकास के क्रम में ही जीवों को सत्तात्मक देखा जा सकता है। अत: ऐसी स्थिति में भी सृष्टि-वाद का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता है।

सृष्टिवाद की समीक्षा के बाद राय यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि कैसे स्वभाविक प्रक्रिया के द्वारा जीव की उत्पत्ति अकार्बनिक जड़ तत्व से हुई है। इस सम्बन्ध में वे स्वत: उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं तथा विकास की प्रक्रिया के क्रम में किसी भी प्रकार के प्रयोजन के विचार को नहीं स्वीकार करते। स्वत: उत्पत्ति के सिद्धान्त के पक्ष का समर्थन करते हुये वे लिखते हैं, "जब तक जैविक रूपों की उत्पत्ति एवं विकास की यन्त्रवादी नियमों के निर्धारण का अन्वेषण नहीं हुआ था, जटिल तथ्यों के बीच रहस्यमय स्रष्टा के विचारों में विश्वास किया जाता था जहाँ यह माना जाता था कि ऐसी सृष्टि विस्तृत सार्वभौम मशीन द्वारा ईश्वरीय प्रयोजन से की गई। जैविक जगत का कारण आश्चर्यजनक ही बना रहा। इसके बीच कोई भेद नहीं रहा कि ऐसे आश्चर्य वैयक्तिक ईश्वर द्वारा किये जाते रहे या रहस्यमय प्राण शक्ति के द्वारा। अन्तत: डार्विनवाद ने प्रयोजन की शक्ति को समाप्त कर दिया या आकारिक जीव विज्ञान से इसे हटा दिया गया।"[28] अत: राय जीव के

वास्तविक स्वरुप की व्याख्या तथा जैविक तथा अकार्बनिक के बीच भेद करते हुए विकासवाद के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हैं।

जीव एवं अजीव के बीच भेद करते हुये कहा गया है "चेतन शरीर एक जीव है, तथा ऐसे चैतन्य जीव का विशिष्ट रूप है, विलक्षण गुणों के समूह को धारण करना जिसके दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं अति संवेदनशीलता तथा प्रजनन।"[21] अति संवेदनशीलता का अर्थ उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करना है तथा प्रजननशीलता का अर्थ आत्मस्थायीकरण है। ये सभी जीवों में पाये जाते हैं चाहे वे पौधे हो, पशु हों या मनुष्य। पैंट्रिक इसे और अधिक स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि जब संगठन आगे की ओर बढ़ता है तथा बहुत ही जटिल एवं सर्वोच्च संगठित जैविक शरीर पर पहुँचता है तो कई गुणों का प्रादुर्भाव होता है। जैसे संवेदनशीलता, मूल प्रवृत्ति, चयनात्मकता, स्मृति, बुद्धि तथा चेतना। इन समूहों को जीवन के नाम से हम जानते हैं। इन्हें ही जीवन और मन कहा जाता है। अतः संगठन ही वह तथ्य है जो जीवों को अजीवों से विभेद करते हैं। यह जीवन तथा मन की काम चलाउ व्याख्या है। राय यह मानते हैं कि जीवन जड़ तत्व का उत्तम एवं प्रोन्नत संगठन है। अतः इनके अनुसार जीवन रहस्यमय अभौतिक शक्ति के बोधक नहीं हैं बल्कि यह निर्जीव जड़ तत्व से एक विशेष संगठन की स्थिति में उत्पन्न होता है। बुद्धि एक शारीरिक क्रिया है। मस्तिष्क विचार के अंग हैं तथा विचार मस्तिष्क का कार्य है। संक्षेप में जीवनी तत्व किसी रहस्यमय तात्विक शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है। वे मनुष्य के आध्यात्मिक सार तत्व को भी प्रभावित नहीं करते। वे ऑरगेनिक जड़ तत्व के निम्नतम रूपों में देखे जा सकते हैं।

लेमार्क के विचारों को उद्धत करते हुये वे कहते हैं कि जीवन पूर्णतः भौतिक जगत के बोध्क हैं। यह स्वतः उत्पत्ति का परिणाम हैं। ऐसे ही विचार को हैकेल भी मानते हैं जो डार्विनवाद को कार्बनिक रूपों की यान्त्रिक व्याख्या मानते हैं या प्रकृति के सही कारण का विज्ञान कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राय के अनुसार जींवन या चेतना रहस्यपूर्ण संवृति नहीं है बल्कि यह उच्चस्तरीय जड़ तत्व के संगठन से अधिक और कुछ नहीं है।

इन सारे तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव सृष्टि के फल नहीं हैं बल्कि जड़ तत्वों से यह विकसित हुआ है। इसे राय हक्सले तथा हैकेल द्वारा समर्थित विकासवाद के आधार पर प्रमाणित करते हैं तथा लिखते हैं, मौलिक जीवन का धाम कार्बन का मिश्रण ही है। यह जड़ तत्व की गति के आणविक सम्पूर्णता से कम ही

रहस्यपूर्ण है। मूलतः सभी जीव प्रोटोप्लाज्म के सामान्य लोंदें की तरह होते हैं, ये कार्बन के साथ ऑक्सीजन का तथा हाइड्रोजन के साथ नाइट्रोजन का संगठन है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात जिस ओर राय ध्यान आकृष्ट करते हैं वह है कार्बनिक तथा अकार्बनिक के बीच का भेद। कुछ पहले तक वैज्ञानिक यह मानते थे कि जीवों के अंतर्गत प्राण शक्ति के उपस्थिति ही ऐसे भेद का कारण हैं, वैसी प्राण शक्ति जिसे आलोकिक उद्भव की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु अन्वेषणों के क्रम में यह देखा गया है कि कार्बनिक एवं अकार्बनिक तत्वों के बीच अनिवार्य भेद है। रासायनिक तत्वों जैसे कार्बन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाईट्रोजन, सलफर से भौतिक शरीरों के निर्माण होते हैं। ऐसे ही रासायनिक तत्व सब्जियों एवं पशु शरीरों में भी देखे जाते हैं। इतनी दूर तक इनमें कोई भेद नहीं होता किन्तु इनके बीच का भेद प्राणशक्ति का भेद हैं जो संवेदनशीलता एवं प्रजनन के द्वारा जाने जाते हैं। अर्थात अकार्बनिक जड़ तत्व में संवेदनशीलता तथा प्रजनन अनुपस्थित रहता है। अतः हैकेल तथा हक्सले द्वारा अन्वेषित जीवों के सबसे सरल एवं निम्न रूप ही कार्बनिक एवं अकार्बनिक प्रकृति के बीच सीमारेखा का काम करते हैं।[30] इनके बीच के भेद की समाप्ति शरीर शास्त्र के क्षेत्र में कोशों के अन्वेषण के आधार पर भी सम्भव हो पाया है। जैविक शरीरों की धारणाओं एवं रूपों को जैविक शरीरों की निर्माण करने वाली कोशों की गतियों एवं रूपों के योगफल का प्रतिनिधि माना जा सकता है। अतः प्राण तत्व के केन्द्र के रूप में कोशों का महत्व है जो जैविक शरीरों के धाम हैं। इन तथ्यों के आधार पर राय यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कार्बनिक तथा अकार्बनिक तत्वों के बीच कोई भेद नहीं है। जब कोई रासायनिक तत्वों की संख्यां के संगठन से जीव का जन्म होता है तो यह जैविक क्षेत्र का बोधक होता है। इनकी मुख्य अभिव्यक्ति शक्तिबर्द्धक एवं गुणवर्द्धक प्रक्रियाओं में निहित देखी जा सकती है।

स्वतः उत्पत्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध भी आपत्ति की गई है। राय इन आपत्तियों की चर्चा तथा इन आपत्तियों को समाप्त करना अपना धर्म समझते हैं जब विकासवादी विचारक कार्बन संघात को ही सबसे सरल रुप मानते हैं। अतः प्रश्न किया जा सकता है कि कार्बन संघात ही क्यों सबसे पहले संरचित हुये हैं? आज ही क्यों नहीं इनका प्रारम्भ होता है? राय इस प्रश्न के उत्तर देने के क्रम में यह कहते हैं कि यह सर्वथा संभव है कि स्वतः उत्पत्ति अब संभव नहीं होते क्योंकि जलवायु एवं वातावरण में परिवर्तन आ चुका है। अति प्राचीन समय में कार्बन का आधिक्य था फलस्वरुप उस समय में इनसे कार्बनिक जड़ तत्व स्वतः अस्तित्व में आ गये होंगे।

पैस्टेयोर ने अपने अन्वेषणों के आधार पर ऐसे विचार को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया है। प्रयोगों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि जैविक जीवाणुओं की उत्पत्ति जैविक जीवाणुओं से हुई है। राय इस क्रम में लिखते हैं कि पैस्टेयोर ने यह माना है कि जीव के बिना किण्वन संभव नहीं है। इनके पहले भी अस्ववास्न ने यह दिखाया था कि इस्ट सूक्ष्म जीवों के पिण्ड थे। पैस्टेयोर ने यह माना है कि जब वे जीव मारे गये किण्वन संभव नहीं हो सका। फिर भी ये एक भिन्न विचार रखते हैं। किण्वन जीवनी प्रक्रिया की उत्पत्ति के बोधक है। प्राचीन समय में जब जीव की उत्पत्ति हुई तो वातावरण में ऑक्सीजन नहीं था। इसे अभी भी देखा जा सकता है कि जीव किण्वन के आधार पर कायम रहता है। लाइफ की क्रिया एन्जाइम की क्रिया है जो पूर्णतः रासायनिक प्रक्रिया है। अतः राय के अनुसार पैस्टेयोर के विचार सही नहीं हैं।

एक और आपत्ति इस विचार के विरुद्ध की गई है जो मुख्यतः यान्त्रिक विकासवाद के विरुद्ध है न कि स्वतः उत्पत्ति के विचार के प्रति। इसके अनुसार हम जड़ तत्व, जीवन एवं मन के बीच गुणात्मक अन्तर पाते हैं। किन्तु जब विकास की प्रक्रिया को क्रमगत मानते हैं तो कैसे अचानक परिवर्तन होने की बात को स्वीकारा जा सकता है। ऐसी स्थिति को समीक्षक छूटे हुये सम्बन्ध की समस्या कहते हैं।

राय के अनुसार आज इसे समस्या का रुप नहीं माना जा सकता। विकास की प्रक्रिया जटिल अवश्य है किन्तु इसे रहस्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। प्रकृति में पूर्ण समरुपता नहीं देखी जाती। विकास की प्रक्रिया में अचानक छलांग भी देखा जाता हैं जहाँ राय यह मानते हैं कि कार्बनिक एवं अकार्बनिक प्रकृति परिणात्मक परिवर्तन अचानक गुणात्मक रूप ले लेते हैं।

इन विवेचनों के आधार पर राय यह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान के अन्वेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीव की उत्पत्ति अकार्बनिक जड़ तत्वों के द्वारा हुई है। अतः राय अपने विचार को और अधिक स्पष्ट करने के क्रम में प्राणवाद तथा नव-प्राणवाद के भी तत्सम्बन्धी विचार की समीक्षा करते हैं। प्राणवाद जैविक जीवन की समस्या का वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत करते हैं तथा विकास के यन्त्रवादी व्याख्या से असंतोष प्रकट करते हैं। किन्तु राय इस विचार की भी समीक्षा करते हैं। प्राणवाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि जीवन की उत्पत्ति अभौतिक शक्ति से हुई है। इसे ड्रेसेच ने 'एनटेलेची' कहा है तथा बर्गसाँ ने

इसे 'एलाँ बीटा' की संज्ञा दी है। ऐसे सिद्धांत जैविक यन्त्रवाद के विरोधी हैं जो जीवों की व्याख्या भौतिक और रसायनिक परिवेश में करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे विचार की जड़ अरस्तु तथा देकार्त आदि के दर्शनों में देखा जा सकता है किन्तु ड्रेसेच तथा बर्गसाँ के विचारों में इसकी पुर्नस्थापना देखी जाती है। इस दृष्टि से नव-प्राणवाद कहा गया है। ऐसे नव-प्राणवाद का प्रभाव समकालीन चिन्तन पर अत्याधिक देखने को मिलते हैं।

राय ने इनके विचारों की समीक्षा की है तथा इसे 'काल्पनिक कवित्व' की संज्ञा दी है।[31] इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि बर्गसाँ ने अपने सृजनात्मक विकासवाद के सिद्धांत का अनिवार्य प्रयोजनपूर्ण आधारों पर आधारित किया है। इन्होंने इसे आधुनिक जैविक सिद्धान्तों में माना है। किन्तु वे इसे अस्वीकार करते हैं कि जैविक विकास वाताव-रण के स्वतः अभियोजन के फल हैं। अतः इनके अनुसार विकास की प्रक्रिया प्रयो-जनपूर्ण है। राय के अनुसार बर्गसाँ का यह सिद्धान्त बर्गसाँ के द्वारा ही दिये गये यन्त्रवाद एवं प्रयोजनवाद के विरुद्ध आलोचनाओं की पृष्ठभूमि में विचित्र लगता है। वे जहाँ एक ओर प्रत्येक चीजें निर्धारित होने के कारण चरमवाद का खंडन करते हैं वहीं यह भी सिद्ध हो जाता है कि यह यन्त्रवाद की अपेक्षा और कुछ नहीं है। अतः यह बर्गसाँ का उदेश्य की भविष्य में सामंजस्व नहीं हैं, का खंडन करना है। यद्यपि वे यह मानते हैं कि आरम्भ में सामंजस्य और प्रयोजन देखा जाता है। राय इस प्रकार सृजनात्मक विकासवाद की आलोचना करते हैं तथा बतलाते हैं कि यदि विकास की प्रक्रिया ईश्वरीय या तत्वमीमांसीय प्राण-शक्ति के द्वारा सम्भव है तो इसमें विषमतायें क्यों हैं ? शायद बर्गसाँ के विकासवाद में इसका उत्तर नहीं है।

बर्गसाँ की मान्यता में दूसरा दोष भी है। बर्गसाँ के अनुसार वस्तुतः जो वास्तविक है वहीं प्राण शक्ति है, वही 'एलाँवीटा' है। ऐसे ही मूलतत्व के जगत की विविधतायें अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः इसलिये क्षणिक जगत के पीछे एक सर्व-व्याप्य तत्व है जो स्वयं सतत परिवर्तनशील है। इस तरह बर्गसाँ का दृष्टिकोण असारहीन हो जाता है।

पुनः राय के अनुसार अन्त में जीवन शक्ति तथा इनमें बौद्धिक तत्वों के अभाव के बीच एक विरोध सा उत्पन्न हो जाता है। वे मानते हैं कि जीव विज्ञान का यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि बुद्धि अथवा प्रयोजन विकास के बाद की अवस्था के देखने को मिलते हैं। स्वयं बर्गसाँ भी इसे मानते हैं। यह स्थिति भी बर्गसाँ के विचार को असंगत बना डालता है।

उपर्युक्त दोषों के कारण राय बर्गसाँ के प्राणवाद को स्वीकारने में तत्पर नहीं हैं। इनके अनुसार बर्गसाँ का यह विचार वस्तुतः नये बोतल में पुराने शराब के तरह है जहाँ 'एलाँवीटा' विश्वचेतना की धारणा का ही नया नाम है। इसे राय विलक्षण दोष[32] मानते हैं।

जीव की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न विचारों की व्याख्या करते हुये राय इसके रहस्य के सम्बन्ध में उत्पन्न विभिन्न विवादों को समाप्त करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे विवेचन के क्रम में राय यह स्वीकार करते हैं कि भौतिकवाद बिना किसी आलोकिक सत्ता के जीवन के रहस्य का विवेचन करते हैं। इस सम्बन्ध में राय के विचार को उद्धृत किया जा सकता है, "इसलिये जीव की उत्पत्ति को तत्त्वमीमांसीय रहस्य में ढके हुये अब रखा नहीं जा सकता है। जड़ तत्व के विकास की प्रक्रिया में जो नवीनताओं की उत्पत्ति को सन्निहित किये हुये है जीवन भौतिक जगत के संदर्भ में नवीनता के रुप में उत्पन्न हुआ है।"[33] इस प्रकार राय के अनुसार जीव की उत्पत्ति जड़ तत्व से हुई है।

राय के उग्र सुधारवादी मानवतावाद के तत्वमीमांसीय विचार के विवेचन के क्रम में तथा इनके विचार को विश्व तत्वमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में आंकने के क्रम में यह देखा जा सकता है कि अपने तत्व-मीमांसीय विचारों में राय वैज्ञानिक भौतिकवाद का समर्थन करते हैं तथा जीवन एवं जगत की व्याख्या इन्हीं भौतिकवादी मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। राय जड़ तत्व को ही चरम तत्व मानते हैं। अतः आलोकिक सत्ता के रूप में चाहे वह ईश्वर हो या आत्मा जैसे तत्त्वों की अस्वीकारोक्ति राय के विचारों में देखने को मिलते हैं। इस दृष्टि से राय मार्क्स जैसे भौतिकवादी विचारक से भी आगे बढ़ते हुये भौतिकवाद के मौलिक रूप को अक्षुण रखने में सफल होते हुए दिखाई देते हैं। अतः कहा जा सकता है कि राय की तत्व-मीमांसा जड़मीमांसा पर आधारित जड़ पदार्थ की वैज्ञानिक व्याख्या का प्रतीक है। ऐसे ही विचारों के द्वारा चेतना या जीव की भी व्याख्या संभव हो सकी है। अतः राय के उग्र सुधारवादी मानवतावाद के तत्वमीमांसीय विचार उत्कृष्ट भौतिकवादी विचार के बोधक हैं।

संदर्भ-सूची

1. एडवर्ड केयर्ड, फिलासॉफी ऑफ रीलीजन, पृ०-3.
2. प्रथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्वानि—वृहस्पति
3. चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः—वृहस्पति

4. जड़ भूत विकारेषु चैतन्यं यत् दृष्यते ।
   ताम्बूलपुंगचूर्णानां योगाद राग इवोत्थिम् ।। सर्व सिद्धान्त संग्रह, पृ०-27.
5. ए० बी० कीथ, रीलीजन एन्ड फिलासॉफी ऑफ वेद, पृ० 58.
6. मुण्डकोपनिषद, 2-7.
7. टी० डे० जॉर्ज, क्लासिकल एन्ड कन्टेमपररी मेटाफिजिक्स, पृ० 1.
8. एम० एन० राय, मैटेरेयलिज्म, पृ० 1.
9. वही, पृ० 1-2.
10. वही, पृ० 14.
11. वही, पृ० 77.
12. गौतम, न्याय-सूत्र 4·2·16
13. कणाद, वैशेषिक सूत्र 7·1·20
14. एम० एन० राय, मैटेरेयलिज्म, पृ० 87.
15. वही, पृ० 89.
16. वही, पृ० 94.
17. एम० एन० राय, फ्रैगमेन्ट्स ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी, खण्ड-2, पृ० 14.
18. वही, पृ०-52.
19. वही, पृ०-51.
20. ए० ई०, टेलर, एलिमेंट्स ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ०-191.
21. एम० एन० राय एण्ड पी० स्प्रैट, वियोन्ड कम्यूनिज्म टु ह्यूमेनिज्म, पृ०-63.
22. वही, पृ०-68.
23. वही, पृ०-42.
24. वही, पृ०-
25. एम० एन० राय, सायन्स एण्ड फिलासॉफी, पृ०-49.
26. वही, पृ०-53.
27. वही, पृ० 2.
28. वही, पृ०-129.

29. जी० टी० एस० पैट्रिक, इन्ट्रोडक्सन टु फिलासॉफी, पृ०-97.

30. वही, पृ०-136.

31. वही, पृ०-165.

32. वही, पृ०-167.

33. वही, पृ०-146.

अध्याय 4

एम० एन० राय के आचारशास्त्रीय विचार

"इथिक्स" शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत होते हैं।[1] इन अर्थों के बीच भेद होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रथम अर्थ में यह जीवन ढाँचा का बोधक है, दूसरे अर्थ में इसे आचरण के नियमों का समुच्चय तथा तीसरे अर्थ में इसे जीवन ढाँचा के सम्बन्ध में जिज्ञासा तथा आचरण के नियमों की जिज्ञासा का बोधक माना जाता है। प्रथम दृष्टिकोण से ही हम बुद्धिस्ट इथिक्स या इसाई इथिक्स की चर्चा करते हैं। दूसरे दृष्टिकोण से ही हम अनैतिक अथवा नैतिक व्यवहार को इथिक्स के अन्तर्गत उदाहरण-स्वरूप विवेचन करते हैं। तीसरे अर्थ में इसे हम दर्शन की एक शाखा मानते हैं।

इथिक्स का इतिहास वस्तुतः मानव इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। पाश्चात्य जगत में इसके प्रतिनिधित्व ग्रीस में सुकरात, प्लेटो अरस्तु आदि करते हुये दिखते हैं। मध्य युग में इनका विकास सन्त अगस्ताइन, सन्त थॉमस इक्वेनस जैसे विचारकों के विचार में देखने को मिलते हैं। हॉब्स, स्पीनोजा, लॉक, ह्यूम, कान्ट आदि प्रारम्भिक आधुनिक अचारशास्त्रीय विचारकों में से हैं। इनमें से बहुत विचारक उन्नीसवीं शताब्दी के अचारशास्त्र का प्रणयन करते हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई महत्वपूर्ण आचारशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रणयन देखने को मिलते हैं जिनमें मूर द्वारा प्रतिपादित नॉननैचुरलिज्म, समकालीन नॉनकागनीटिभिज्म तथा अस्तित्ववादी आचारशास्त्र बहुचर्चित सिद्धांत है। अत्यन्त अर्वाचीन विचारों में आर० एम० हेयर, नावेल स्मिथ आदि के विचार हैं जिन्होंने आचारशास्त्रीय समस्याओं को नये भाषाई विचारों में ढालने का प्रयास किया है।

आचारशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत है। नैतिक चेतना इसके केन्द्र स्थल हैं। ऐसी ही नैतिक चेतनाओं में नैतिक गुणों, नैतिक निर्णय, नैतिक मापदण्ड, नैतिक पद्धति, कर्त्तव्य और नैतिक बद्धता, सदगुण-असदगुण, दण्ड और पुरस्कार तथा नैतिक भावना मुख्य रूप से आ जाते हैं। इन विस्तृत क्षेत्रों के बीच यह स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है कि आचारशास्त्र नैतिक गुणों के अर्थ का स्पष्टी-

करण करते हैं, नैतिक निर्णयों के स्वरूप, विषय मान्यतायें तथा नैतिक शक्ति पर विचार करते हैं, नैतिक मापदण्ड का निश्चयीकरण करते हैं, नैतिक पद्धति पर विचार करते हैं, कर्त्तव्य एवं दायित्व का स्पष्टीकरण करते हैं, सदगुण-असदगुण, दण्ड और पुरस्कार जैसे विचारों का अध्ययन करते हैं तथा सबसे आगे बढ़कर नैतिक भावना जैसी संवेदनशील तथ्य का विवेचन एवं विश्लेषण करते हैं। मानव जीवन का आदर्श बतलाना या जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित करना भी आचार-शास्त्र का विषय क्षेत्र है।

पाश्चात्य आचारशास्त्र में इनका विशद विवेचन उपलब्ध है। यहाँ नैतिक आदर्श या मापदण्ड के निर्धारण के क्रम में विभेद तो प्रकट किए गए हैं किन्तु इन विभेदो में मानवीय आचरण को पकड़ने का सफल प्रयास है। ऐसे ही विवेचन के क्रम में यहाँ बह्य नियमवाद के क्रम में राजकीय नियम, सामाजिक नियम तथा ईश्वरीय नियम के समीक्षात्मक विवेचन उपलब्ध हैं। अन्त: अनुभूति को नैतिक आदर्श के रूप में माने जाने के क्रम में यहाँ नैतिक इन्द्रियवाद तथा रसेन्द्रियवाद के साथ-साथ विवेकवाद या बुद्धिवाद का भी विवेचन उपलब्ध है। प्रयोजनवादी विचारों की समीक्षा के क्रम में सुखवाद के विभिन्न पक्षों का विवेचन आत्मपूर्णतावाद को नैतिकता का मापदण्ड तथा सुखवाद एवं बुद्धिवाद के मध्य की कड़ी के रूप में इसे विवेचित किया गया है। इनसे यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य आचारशास्त्र में उचित अनुचित या शुभ-अशुभ का निर्धारण ही इसके प्रबल पक्ष स्वरूप हैं।

पाश्चात्य आचारशास्त्र दर्शन शास्त्र पर आश्रित प्रतीत होते हैं किन्तु भारतीय आचार शास्त्र भारतीय दर्शन का अभिन्न अंग है। यदि भारतीय दर्शन को विचार की संज्ञा दी जाय तो भारतीय आचारशास्त्र की उसे जीवन की प्रणाली के रूप में उपस्थित करने में समर्थ है क्योंकि भारतीय आचारशास्त्र मानव आदर्श की केवल मीमांसा ही नहीं करता बल्कि उसे सिद्ध करने का साधन भी बताता है। इस दृष्टि से सत्य की सिद्धि का साधन भारतीय आचारशास्त्र का केन्द्र स्थल है। इसका आधार सर्व भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: है। अत: भारतीय आचार-शास्त्र का सर्वेक्षण इसी दृष्टि से सम्भव है। वेदों को भारतीय विचार का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। उन्हें ही भारतीय विचारों एवं संस्कृति का उद्‌गम स्थल माना जाता है। इनके अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण जीवन के प्रति अपनाया गया है जो सत्यस्यसत्यम तथा केन्द्रस्य केन्द्रम के रूप में मानव जीवन में निहित है। इसे ही जगत का मूल सिद्धांत माना गया है जिसे ऋत या शाश्वत नियम की संज्ञा दी गई है। ऋग्वेद में ऋत को ही

पापों का प्राक्षालक तथा जीवन-तत्व का वर्द्धक माना गया है।[2] अतः ऋत सिद्धांत पर आधारित वेदो में निहित आचारशास्त्र न केवल धार्मिक है बल्कि समाज में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक श्रद्धा पर आधारित है। वेदों में वर्णित पुरुषार्थों, वर्ण व्यवस्था एवं वर्णाश्रम धर्मो की स्थिति ऐसे विचार का पृष्ठ पोषण करते हैं।

उपनिषदों में वेद के विचारों को अधिक सुव्यवस्थित रूप में उपस्थित किया गया है तथा यहाँ मानव आचरण को मानवता के आध्यात्मिक विकास पर आधारित किया गया है। उपनिषदों का दृष्टिकोण मानवतावादी है तथा अहिंसा जैसे सर्वोच्च सद्‌गुण के द्वारा यहाँ मानव व्यवहारों की व्याख्या की गई है। यह कहा गया है कि आत्मा कभी भी उच्च स्तर को आलस्य द्वारा प्राप्त नहीं कर सकती बल्कि अनुशासन के विशिष्ट रूप के आधार पर ही उच्चात्मा की प्राप्ति हो सकती है।[3] तैत्तरीय उपनिषद् में भी शांत, नियन्त्रित, सहनशील व्यवहार के फलस्वरूप ही आत्मानुभूति की बात की गई है।[4] यहाँ भी वेदों में बतलाये गए वर्ण व्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म की चर्चा सामुदायिक स्वतंत्रता, स्वतंत्र चेतना पर आधारित नैतिक अनुशासन की दृष्टि से की गई है। गीता में बतलाए गए ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का समन्वय तथा अनासक्त कर्म योग मूल संदेश के रूप में माना जाना भारतीय आचारशास्त्रीय मान्यताओं की चरम परिणति है।

प्राचीन भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में एक ओर आस्तिक दर्शनों की प्रतिस्थापना है तो दूसरी ओर नास्तिक दर्शनों की। भौतिकवादी दर्शन चार्वाक नास्तिक दर्शन का शिरोमणी है। यहाँ स्थूल सुखवाद का समर्थन आचारशास्त्रीय आदर्श के रूप में किया गया है। यद्यपि इस दर्शन की कटु आलोचनायें हुई हैं किन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय परम्परा में यह उन्मुक्त एवं स्वतंत्र विचार का परिचायक है। जैन एवं बौद्ध दर्शनों में यद्यपि वेद में आस्था प्रकट की गई है फिर भी ईश्वर के प्रति उनका कोई विश्वास नहीं है। किन्तु इन दो दर्शनों में नैसर्गिक आदर्शों की प्राप्ति के क्रम में आवरण के अनुशासन की प्राथमिकता स्वीकार की गई है। जैन का सम्यक दर्शनज्ञानचरित्राणिमोक्षमार्गः तथा बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग इसके सर्वोच्च उदाहरण हैं। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता है कि बौद्ध एवं जैन दर्शनों में सर्वोच्च नैतिक आदर्शों की परिणति हो पाई है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आचारशास्त्रीय वास्तववाद एवं अनेकवाद देखने को मिलते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि समाज सेवा, क्रियाशीलता, प्रेम एवं अनुभविक

जगत से संन्यास के बीच का समन्वय ही न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचारशास्त्र का मूल मन्त्र है। नैयायिकों ने यह माना है कि ज्ञानेन्द्रियों से बिलगाव में ही सर्वोच्च शुभ निहित है।[5]

सांख्य योग में भी आध्यात्मिक पूर्णता को जीवन का लक्ष्य माना गया है तथा दर्शन को विविध ताप से मुक्ति पाने की जिज्ञासा की संज्ञा दी गई है।[6] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य-योग दर्शन के मूल आचारशास्त्रीय विचार भी मोक्ष या त्रिविध दुखों से मुक्ति ही है। योग दर्शन में उसकी प्राप्ति समाधि के उपरान्त हो पाती है जिसे चित्त वृति निरोध की अवस्था माना गया है।[7]

मीमांसा दर्शन वेदों के आधिपत्य को सबसे अधिक महत्व देते हैं तथा वेदों में बतलाये गए कर्मों के पालन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। इनके अनुसार धर्म के फलस्वरूप ही जीवन के आचरण में आस्था जम सकती है तथा इसी पर आधारित वर्णाश्रम धर्म सामाजिक, नैतिक व्यवस्था को ही प्रोन्नत करने में समर्थ नहीं हो सकता बल्कि सांसारिक एकता के स्वरूप की वृद्धि में भी योगदान देता है। अतः मीमांसा का आचारशास्त्र धर्म अथवा कर्म का आचारशास्त्र हैं।

वेदान्त दर्शन आत्म अनुभूति को ही आचारशास्त्रीय आदर्श मानते हैं। यद्यपि धर्मों का विशद विवेचन वेदान्त दर्शन में मीमांसा की तरह उपलब्ध नहीं है किन्तु इसके द्वारा बतलाये गए साधन चतुष्टय आचरण मीमांसा के ही रूप हैं जहाँ ब्रह्म ज्ञान के साथ सारे कार्य विधियों की समाप्ति हो जाती है। अतः जहाँ दान्ते[8] ने माना है कि शंकर का वेदान्त चारित्रिक शक्ति एवं साहस का प्रतीक है वहाँ डॉ० राधाकृष्णन[9] यह मानते हैं कि ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के साथ सभी प्रकार की क्रियाओं की समाप्ति देखी जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय आचारशास्त्र मानवता का सबसे समृद्ध आचारशास्त्रीय विवेक का प्रतीक है। यहाँ नैतिक कर्त्तव्यों का निश्चित आध्यात्मिक एकत्व का सहायक माना गया है। ऐसे ही आध्यात्मिक अनुशासन के सहायक तथ्यों के रूप में नैतिक कर्त्तव्य, त्रिरत्नों, अष्टांगिक मार्गों, चित्तवृति निरोध तथा साधन चतुष्टयों में अभिव्यक्त है।

समकालीन चिन्तन धारा में प्राचीन आचारशास्त्रीय मान्यताओं की ही प्रतिस्थापना की गई है जिसका आधार आध्यात्मवाद पर आधारित कर्त्तव्यशास्त्र है। यहाँ यह स्मरणीय है कि केवल चार्वाक भौतिकवादी नैतिकता का समर्थन करते हैं जबकि अन्य सभी दार्शनिक आध्यात्मवादी नैतिकता के ही सफल समर्थक हैं। अतः

पाश्चात्य एवं भारतीय आचारशास्त्र की इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि में हमें मानवेन्द्र नाथ राय के उग्र सुधारवादी मानवतावाद में निहित नैतिक विचारों का विवेचन कर उनके उत्कर्ष को उपस्थित करना है।

अन्य विचारों की तरह एम० एन० राय के आचारशास्त्रीय विचार भी भारतीय एवं पाश्चात्य अचारशास्त्रीय विचारों से भिन्नता रखते हैं। इनके द्वारा समर्थित उग्र सुधारवादी मानवतावाद नवमानववाद है जिसमें मनुष्य की स्वतंत्रता के उत्कर्ष को महत्व दिया गया है। ऐसे मानवतावादी विचार को "नव" जैसे विशेषण से इसलिए अभिहित किया गया है कि राय अपने मानवतावादी विचार में मानवतावादी मान्यताओं को वैज्ञानिक ज्ञान तथा सामाजिक अनुभूति की पृष्ठभूमि में समृद्ध, सशक्त तथा विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए दीखते हैं। इस दृष्टि से राय के आचारशास्त्रीय विचार भी नवमानवतावादी आचारशास्त्र का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाई देते हैं।

राय धर्म निरपेक्ष मानवतावादी आचारशास्त्र के समर्थक हैं। इनकी आस्था भौतिक जगत के क्रिया-कलापों में है। यही कारण है कि ये मनुष्य की समस्त समस्याओं को भौतिक जगत के क्रियाकलापों की पृष्ठभूमि में ही देखने का सफल प्रयास करते हैं। भौतिक जगत के क्रियाकलापों में आस्था होने के कारण ही राय किसी भी प्रकार की आलौकिक सत्ताओं का हस्तक्षेप मानवीय क्रियाओं में न्यायसंगत नहीं मानते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय समग्र जगत की भौतिकवादी व्याख्या की पृष्ठभूमि में ही अपने आचारशास्त्रीय मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए दीखते हैं। जैसा कि वे लिखते भी हैं, "आचारशास्त्रीय समस्याओं के प्रति भी मेरा दृष्टिकोण भौतिकवादी है। मेरा विश्वास है कि न केवल भौतिकवादी आचारशास्त्र की संभावना है बल्कि भौतिकवादी नैतिकता ही नैतिकता का सबसे उत्कृष्ट रूप है।" इसका कारण यह है कि यह मनुष्य को अपने को बिना किसी काल्पनिक आलौकिक शक्तियों के समक्ष भ्रष्ट किए हुए नैतिक बनने में सहायता करती है।[10] इससे यह स्पष्ट है कि राय आचारशास्त्रीय व्यवहारों को किसी भी अलौकिक-मानवीय-आध्यात्मिक अनुज्ञप्ति पर आधारित नहीं मानते। इसके विपरीत, राय के अनुसार मनुष्य के नैतिक व्यवहार जैविक अथवा भौतिक तथ्यों पर आधारित होते हैं ऐसा मानकर राय नैतिकता के निर्धारक के रुप में जैविक तथ्यों के महत्व को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार नैतिकता का आधार विवेक है तथा नैतिकता सदा विवेक सम्मत मान्यताओं पर आधारित होती है। राय की प्रसिद्ध उक्ति है "मनुष्य इसलिये नैतिक है कि वह विवेकशील है।"[11]

सामान्यतया नैतिक व्यवहार को दो रूपों में निर्देशित देखा जाता है। प्रथम रुप में यह कहा जा सकता है कि नैतिक व्यवहार जन्मजात होते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति स्वतः देखी जाती है। दूसरा रूप नैतिक व्यवहार को किसी वाह्य अभि-करणों के आदेश द्वारा निर्देशित मानते हैं। प्रथम रुप नैतिकता को विवेक पर आधारित करते हुए दीखते हैं जबकि दूसरे रूप वाह्य शक्ति द्वारा नियंत्रित प्रतीत होते हैं। प्रथम की अस्वीकारोक्ति वस्तुतः नैतिकता की ही अस्वीकारोक्ति है क्योंकि ऐसी स्थिति में हमें पुरोहितों एवं पंडितों की नैतिकता को ही नैतिकता का आदर्श रुप स्वीकारना होता है। एक मानवतावादी विचारक होने के कारण तथा भौतिक जगत की शक्ति में आस्था रखने के कारण राय नैतिक व्यवहारों का उद्ग-मस्थल विवेक को मानते हैं तथा स्वीकारते हैं कि नैतिक नियमों तथा नैतिक व्यव-हारों पर बाह्य नियन्त्रण माना जाना श्रेयस्कर नहीं है। इस प्रकार ये नैतिक व्यवहारों को विवेक से स्वतः निःसृत मानते हैं।

विवेक को नवमानवतावाद या उग्रसुधारवादी मानवतावाद की एक महत्व-पूर्ण मान्यताओं में से स्वीकारा गया है। यही वह तथ्य है जो मनुष्य को अन्य पशुओं से भिन्न कर पाता है। यह तो एक जैविक तथ्य है। इसकी उत्पत्ति को बिना भौतिक तत्वों के स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यही बात स्वतंत्रता एवं नैतिकता के साथ भी है जिन्हें राय अपने विचार के तीन महत्वपूर्ण स्तम्भ मानते हैं। राय नवमानवतावादी मूल्यमीमांसा की चर्चा करते हैं तथा मानते है कि सभी मूल्यों का अंतिम श्रोत स्वतंत्रता है जिसे राय सर्वोच्च मूल्यकी संज्ञा देते हैं। यह मानव अस्तित्व का सारतत्व है। यही कारण है कि इसे जीवन का चरम मूल्य स्वीकारा जाना चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य आचारशास्त्रीयों की तरह ही राय भी स्वतंत्रता एवं विवेक को नैतिकता की महत्वपूर्ण मान्यताओं के रूप में स्वीकारते है। यहाँ प्रसंगवश इस तथ्य का उल्लेख करना अनिवार्य प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आचारशास्त्र में नैतिकता के मापदण्डों की चर्चा के क्रम में जहाँ एक ओर भाववादी मापदण्डों की चर्चा मनोवैज्ञानिक सुखवाद के रूप में उपलब्ध है वहाँ दूसरी ओर बुद्धिवाद अथवा कठोरतावाद के रुप में एकांगी मापदण्ड की भी चर्चा की गई है। राय इन दोनों ही विपरीत विचारों से उपर उठ कर सहज माप-दण्ड की चर्चा करते हैं जहां वे मानते हैं कि किसी भी व्यक्ति को नैतिक होने के लिये उसे केवल मानवोचित गुणों से सम्पन्न होना चाहिये। बिना हिचक के यह कहा जा सकता है कि राय अपने इस विचार में पाश्चात्य आचारशास्त्रीयों द्वारा समर्थित आत्मपूर्णतावाद के विचार से भी आगे बढ़ जाते हैं। यह उनके द्वारा समर्थित

सहज विवेकवाद का ही फल है। राय नैतिकता की व्याख्या के क्रम में किसी भी प्रकार के तात्विक आदेश, रहस्यात्मक आदेश अथवा नैसर्गिक आदेश की खोज को व्यर्थ मानते हैं तथा अपने नैतिक विचारों को सहज जैविक तथ्यों पर आधारित करते हुये इसे विकासवादी आयामों में निहित करते हुये दीखते हैं। इसी अर्थ में वे मानवतावादी नैतिकता को "विकासवादी नैतिकता"[12] की संज्ञा देते हैं।

राय के अनुसार विवेकसम्मत होने का अर्थ नियमों का पालक होना है। राय यह मानते हैं कि भौतिक जगत नियमों द्वारा नियंत्रित है। इस अर्थ में नियमित एवं नियमों द्वारा नियंत्रित को विवेक सम्मत माने जाने में कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिये। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता कि मानव का उद्विकास भौतिक जगत के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। यह विश्व विज्ञान सम्बन्धी तथा विकास सम्बन्धी अन्वेषणों का फल है। इस प्रकार इसे दो प्रतिज्ञप्तियों में रूपान्तरित किया जा सकता है—

यह जगत नियमों द्वारा नियन्त्रित है।

मानव नियन्त्रित जगत की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भौतिक जगत के आंगिक उद्विकास के फल होने के कारण मानव विवेकशील है। अतः राय मानव को अनिवार्यतः विवेकशील प्राणी स्वीकारते हैं।

यद्यपि राय के अनुसार मनुष्य अनिवार्यतः विवेकशील प्राणी है किन्तु मनुष्य की विवेकशीलता एवं भौतिक जगत में व्याप्त विवेक सम्मतता के बीच तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। जड़ पदार्थ एवं मानव दोनों ही एक ही भौतिक जगत के अंश हैं किन्तु दोनों को नियंत्रित करने वाले नियम में अक्षरशः तादात्म्य नहीं है। मनुष्य में चेतना का सर्वथा अभाव देखा जाता है। इस प्रकार जड़ तत्व एवं मानव के बीच जैविक उद्विकास की प्रक्रिया में बड़ा भेद है। जड़ तत्व का अपना अलग नियम है तथा चेतन मानवों का अपना अलग। जहाँ भौतिक जगत के अंश होने के नाते मानव कुछ अर्थों में बाधित है वहाँ कुछ अर्थों में वह पूर्ण स्वतंत्र भी है। चयन की स्वतंत्रता इसके स्पष्ट उदाहरण है। जड़ तत्व में इसका नितान्त अभाव है। मनुष्य ने चयन की स्वतंत्रता को जैविक उद्विकास के क्रम में प्राप्त किया है। इस प्रकार स्वतंत्रता मानसिक क्रिया एवं बुद्धि के उप प्रमेय है। अतः जब कभी भी राय मनुष्य के बौद्धिक होने की बात करते हैं तो वे ऐसी विवेकशीलता को उपर्युक्त अर्थों में ही प्रयोग करते हैं। राय के अनुसार मनुष्य बाधित एवं स्वतंत्र दोनों है। वह अपनी सीमाओं

अथवा अपनी बाध्यताओं के प्रति सजग होता है तथा साथ-साथ वह इन बाध्यताओं से उपर उठने का प्रयास करता है। ऐसे प्रयास इसके स्वतंत्रता के ही प्रतिफलित रूप हैं। यही वह स्थल है जहाँ उसकी महिमा मंडित है यह सत्य है कि मनुष्य को इच्छा स्वातंत्रय है किन्तु यह भी सत्य है कि इसके इच्छा स्वातंत्र्य नियमों द्वारा नियंत्रित जगत के विपरीत नहीं है। इस प्रकार मनुष्य की विवेकशीलता ही उसकी इच्छा की स्वतंत्रता एवं नियमों द्वारा नियंत्रित जगत के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। ऐसे विवेकशीलता का उद्‌गम ही नियमों द्वारा नियंत्रित भौतिक जगत के अनिवार्य अंग माने जाने में निहित हैं। अतः राय स्वतंत्रता एवं विवेकशीलता को मानव स्वभाव का आधार स्तम्भ मानते हैं।

पाश्चात्य आचारशास्त्र की सर्वप्रमुख मान्यता के रूप में इच्छा स्वातंत्रय को स्वीकारा गया है। राय इससे आगे बढ़कर स्वतंत्रता को नैतिकता का अभिसूचक मानते हैं। अतः राय के अनुसार स्वतंत्रता की व्याख्या अनिवार्य है। इस क्रम में राय जैविक उद्‌विकास की दो अवस्थाओं के बीच भेद करते हैं। वे हैं मानव से पूर्व का उद्‌विकास तथा मानव का उद्‌विकास। प्रथम अवस्था में अस्तित्व के लिए संघर्ष की निर्णायक भूमिका देखी जा सकती है। ऐसे संघर्ष मुख्यतः मूलप्रवृत्यात्मक होने के कारण अंध एवं स्वतः संचालित थे। मनुष्य के उदय के साथ मन के महत्व उभर आये। फलस्वरूप अस्तित्व के लिए संघर्ष ने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का रूप धारण कर लिया। इन दोनों के बीच रूपान्तरण के साथ-साथ अविच्छिन्नता देखने को मिलती है। इस प्रकार मनुष्य के उद्‌विकास के साथ स्वतंत्रता के लिए संघर्ष पर बुद्धि का नियन्त्रण देखने को मिलता है। ऐसी ही स्थिति में चयन एवं निर्णय जैसे तत्वों का भी उद्‌भव देखा जा सकता है। यदि नैतिकता के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि मानवीय क्रियाओं को उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आधारों पर आंका जाता है। यही कारण है कि नैतिकता कि पूर्वमान्यता इच्छा की स्वतंत्रता है तथा चयन एवं बुद्धि के अभाव में इच्छा की स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि नैतिकता का सम्बन्ध केवल मनुष्यों के साथ देखा जाता है। जैसा कि राय लिखते भी हैं, "मानव उद्‌विकास में स्वतंत्रता की खोज प्रयोजनपूर्ण है। अस्तित्व के लिए संघर्ष मानवीय स्तर पर यांत्रिक अभियोजन के द्वारा सम्पन्न नहीं होता, यह प्रकृति पर विजय प ने के लिए प्रयोजनपूर्ण प्रयासों द्वारा सम्पन्न होता है।[13] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति पर विजय करने का प्रयास विज्ञानों द्वारा किये गए प्रयास के उदाहरण हैं। चूँकि विज्ञान को सत्य का अन्वेषण माना जा सकता है इसलिए इसे स्वतंत्रता के

लिए मनुष्यों की खोज का फल माना जाना श्रेयस्कर है। इस दृष्टि से सत्यान्वेषण स्वतंत्रतान्वेषण के उप प्रमेय सिद्ध हो जाते हैं।

जैसे-जैसे स्वतंत्रता सशक्त होती जाती है, वैसे-वैसे सारी बाध्यताओं की समाप्ति में भी प्रगति देखी जाती है। इस प्रकार स्वतंत्रता का उदय ही मानवीय संभावनाओं एवं मानवीय शक्तियों के उभ्युदय की प्रगति का बोधक है। इस दृष्टि से राय मनुष्य को मनुष्य के रूप में चित्रित करते हैं न कि यांत्रिक सामाजिक संगठन जैसे चक्के के कमानियों के रूप में। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय स्वतंत्रता की प्रगति को मानवीय शक्ति के उद्घाटन की प्रगति का सारतत्व मानते हैं।

राय संकल्प एवं विवेक के बीच भेद नहीं मानते। उनके अनुसार संकल्प स्वातंत्र्य एवं विवेक के बीच परस्पर विरोध नहीं है बल्कि इनके अनुसार इन दोनों के बीच कारणिक सम्बन्ध है। राय मानते हैं कि विवेक एवं नैतिकता के बीच कारणिक सम्बन्ध है जहाँ दूसरे से पहले को अनुमित किया जा सकता है। जैसा कि वे लिखते भी हैं, "नैतिकता को मनुष्य के आंतरिक विवेक की ओर निर्देशित होना चाहिए। मनुष्य के आंतरिक विवेक ही सामंजस्य पूर्ण सामाजिक क्रम की एक मात्र गारंटी है। यही नैतिक क्रम का भी बोधक है क्योंकि नैतिकता बौद्धिक कार्य के प्रतीक हैं।"[14] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय मनुष्य की विवेकशीलता पर उसकी नैतिकता को आधारित मानते हैं तथा कहते हैं कि बौद्धिक होने के कारण ही मनुष्य नैतिक है।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है। क्या हमारे सारे क्रियाकलाप सदा बौद्धिक होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अवश्य ही निषेधात्मक होगा। यदि मनुष्य अनिवार्यतः बौद्धिक है और तो भी उनकी क्रियायें सदा बौद्धिक नहीं हैं, तो क्या इससे विरोधी विचार को मानव स्वभाव के सम्बन्ध में प्रश्रय नहीं मिलता है? राय के अनुसार मानवतावादी मान्यता को ऐसी स्थिति में अयथार्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता। इनके अनुसार विवेक का अन्वेषण इस तथ्य में किया जा सकता है कि मनुष्य अपने आप में विश्वास खो बैठे हैं। उन्हें सदा से यह विश्वास कराया गया है कि वह वाह्य शक्तियों पर भरोसा करें। ऐसी स्थिति में मानवतावाद का उदेश्य मनुष्य में छिपे विवेक को जाग्रत करना है। उसे अपनी शक्ति की संभावना का अनुभव करना है। चूँकि वह आत्मविश्वास खो चुका है तथा ऐसा महसूस कर रहा है कि वह किसी उच्च अधिकारी का दास है, इसलिये मानवतावाद ऐसे खोये हुए आत्मविश्वास को जगाने का एक सफल प्रयास है। राय के अनुसार मानवीय गुणों

के प्रति सजग करना ही मानवतावाद का मुख्य उदेश्य है ताकि वह विश्वास कर सके कि ईश्वरीय संकल्प अथवा अलौकिक सत्ता के द्वारा उसका भाग्य निर्धारित नहीं है बल्कि उसमें स्वयं ऐसी शक्ति है जिसकी अनुभूति कर वह अपने को सशक्त महसूस कर सकता है। इस दृष्टि से राय यह मानते हैं कि नैतिक आदेश भी स्वयं मनुष्य में अन्तर्निहित है।

राय के आचारशास्त्रीय विचारों को नैतिक मापदण्डों के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। आचारशास्त्र के क्षेत्र में नैतिकता के आदेशों के निर्धारण को लेकर अत्यन्त ही विवाद है। ऐसे ही विवादों के फलस्वरूप नियमवाद, सुखवाद, बुद्धिवाद तथा अन्तःअनुभूतिवाद जैसे सिद्धान्तों की चर्चा उपलब्ध है। नियमवाद के अनुसार नैतिकता का मापदण्ड वाह्य नियम हैं, सुखवाद के अनुसार इन्द्रिय सुख ही नैतिकता का माप दण्ड हैं, बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि को ही नैतिकता का मापदण्ड माना गया है तथा अन्त:अनुभूति बाद के अनुसार मनुष्य की रहस्यमय अन्तः चेतना अथवा अन्त:अनुभूति ही नैतिकता का मापदण्ड है। यदि इन विभिन्न मापदण्डों पर विचार किया जाय तो यह देखा जा सकता है कि इनके बीच के विवाद का आधार मानव स्वभाव को एकांगी रूप में उपस्थित करना है। इन विचारों में मनुष्य को या तो ईश्वर की प्रतिछाया, सृष्टि का मुकुट अथवा दैत्य जो हमेशा स्वार्थ में लीन रहता है, के रूप में उपस्थित किया गया है। स्वभावतः मनुष्य या तो किसी भौतिक शक्ति के प्रति उत्तरदायी है या ईश्वर के प्रति। इससे ऐसा लगता है कि मनुष्य को मनुष्य मानने के अतिरिक्त उसे अन्य वस्तु के रूप में उपस्थित किया गया है तथा यही मनुष्य के सम्बन्ध में सबसे अधिक दुःखद स्थिति है राय के अनुसार आज आवश्यकता है वास्तविक मनुष्य के पुनर्वास की, वैसे मनुष्य के सृजन का जो स्वयं अपने प्रति उत्तरदायी हो। नव मानवतावाद ऐसे ही विचार के प्रतिपादक हैं तथा नव मानवतावाद अपने आचारशास्त्रीय विचारों में मनुष्य की इसी धारणा को प्रति-विम्बित करता है। अतः राय नैतिकता के मापदण्ड की समस्या को संतोषप्रद रूप में उपस्थित करने के क्रम में मानव अस्तित्व के गहरे मिट्टी में प्रवेश की राय देते हैं। इनके अनुसार आजतक के आचारशास्त्री या तो स्वर्ग की ओर दृष्टि रखते थे या मनुष्य में ईश्वरत्व की खोज करते थे। वे इस बात को भूल ही जाते थे कि मनुष्य विवेक एवं संकल्प का विलक्षण संगठन है।

आचारशास्त्र का इतिहास साक्षी है कि मानव प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित करने के प्रयास हुए हैं तथा इन प्रयासों में नैतिक आदेश को विवेकोन्मुख बनाने का प्रयास किया गया है। इससे मानवतावादी विचार की प्राचीनता सिद्ध होती है।

किन्तु राय नव मानवतावाद का समर्थन करते हैं। ऐसी स्थिति में यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि राय के द्वारा समर्थित नव मानवतावाद किस प्रकार प्राचीन मानवतावादी आदर्शों की अपेक्षा उन्नत है। इस शंका का समाधान मानवतावाद के इतिहास के पृष्ठों में जाने से हो जाता है। राय इसी क्रम में प्राचीन ग्रीस के दार्शनिकों की चर्चा करते हैं। मानव आचरण के प्रश्न को उठाने का स्पष्ट प्रयास प्रोटागोरस के विचारों में देखने को मिलते हैं। इन्हें ही **होमो मेन सुरा** अर्थात् मनुष्य ही समस्त वस्तुओं का मापदण्ड है जैसे विचार को उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त है। प्रोटागोरस के इस विचार में मनुष्य को सभी वस्तुओं का मापदण्ड मानकर मनुष्य के महत्व को स्वीकारा गया है तथा मानवतावादी विचार को प्रश्रय दिया गया है। राय इनके इस विचार से पूर्णतः सहमत हैं।

प्रोटागोरस के इस विचार की आलोचनायें हुई हैं तथा इनके इस विचार को आत्मनिष्ठ स्वीकारा गया है। यदि ऐसे विचार को स्वीकार कर लिया जाय तो सत्य की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है क्योंकि ज्ञाता से स्वतंत्र कोई सत्य बच ही नहीं पाता। राय इसकी समीक्षा अपने ढंग से करते हैं। इनके अनुसार प्रोटागोरस अपने समय में ज्ञान की सीमाओं के कारण शुभ को वैयक्तिक एवं वस्तुनिष्ठ दोनों सिद्ध करने में सफल नहीं हो सके हैं तथा इसी स्थिति के कारण उनके विचार में दोष आ गया है।

इसी प्रकार यह देखा जाता है कि मानवतावादी विचारों की नींव सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, स्ट्वाइकस तथा एपीक्यूरियेन्स के विचारों में निहित है। इन सारे विचारकों ने मानव विवेक को बढ़ावा दिया है किन्तु ऐसे विवेक को ईश्वर के आदेश में निहित माना है। राय यह मानते हैं कि इनके विचारों में मानव को शुद्ध एवं पूर्ण मानव के रूप में उपस्थित नहीं किया गया है। इन विचारकों में केवल एपीक्यूरस ही नैतिकता को ईश्वर के आदेश में निहित नहीं मानते हैं। इस प्रकार मानवतावाद की शुद्ध धारा मध्य युग में चल कर अन्धविश्वास की भ्रष्टता में विलीन होती हुई दिखाई देती है। ऐसी ही भ्रष्टता का विरोध पुनर्जागरण के क्रम में देखा जाता है क्योंकि इनके विचारों में एपीक्यूरियेन विचारों की पुनरावृति देखी जाती हैं। इस दृष्टि से पुनर्जागरण की धारा को मानवतावादी नव जागरण की संज्ञा दी जा सकती है।

यूरोपीय ईसाई धर्म के विकास एवं अधःपतन का इतिहास भी ऐसे ही विचार का समर्थन करते हैं। मूलतः ईसाई धर्म को यहूदी ईश्वर तथा शाही रोम के खिलाफ मनुष्य के विद्रोह का प्रतीक माना गया है। **सरमन ऑन द माउन्ट** इसके प्रतीक हैं।

राय के अनुसार यह "सर्वोच्च नैतिक आदर्श"[15] का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसी स्थिति एक हजार वर्षों तक अनवरत रूप में देखी जा सकती है। काल क्रम में पूरोहितों के बाहुल्य के कारण इनके मौलिक स्वरूप में परिवर्तन देखने को मिलते हैं। ऐसे पूरोहितों ने अपने को इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि संकल्पित कर रखा था तथा वे मानते थे कि वे ही ईश्वर एवं मनुष्यों के बीच माध्यम का काम करते हैं। थॉमस एक्वीनस ने ऐसे विचार का समर्थन किया है तथा माना है कि ईश्वरीय अध्यादेश ने ईश्वरीयशक्ति को मानवीय आत्मा पर अधिकृत कर दिया है तथा पूरोहितों को ईसा मसीह के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने का अधिकार है। रोम के प्रधान पादरी के माध्यम से ऐसे पादरियों ने अत्यन्त ही विषम परिस्थिति को उत्पन्न कर दिया था। अतः जहाँ मौलिक रूप में ईसाई धर्म मनुष्यों को मुक्ति की आशा दिलाते थे वहाँ पादरियों के प्रभाव ने मनुष्यों को मृत्यु की ओर उन्मुख किया था। अतः मूर्त्ति पूजा की ओर उन्मुख ईसाई धर्म पूर्णतः समाप्त हो चुका था। पुनर्जागरण को ऐसे ही दिखावटी ईश्वरों के अत्याचार के विरूद्ध विचार धारा का बोधक माना जा सकता है। यह स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करने वाले मनुष्यों के युगों से संघर्ष करने की स्थिति के बोधक हैं। ऐसे पुनर्जागिरण यद्यपि आलौकिक सत्ता के विरोधी थे तथा सफलतापूर्वक ऐसी सत्ता का विरोध भी इसने किया था किन्तु वे कोई सफल विकल्प देने में सक्षम नहीं थे। जैसा कि राय लिखते भी हैं, "उन्होंने पूरानी मान्यताओं को अस्वीकारा जो आलौकिक मापदण्ड का दावा करते थे किन्तु उन्होंने नैतिकता का कोई वैकल्पिक मापदण्ड उपस्थित नहीं किया था।"[16]

आधुनिक दर्शन का अध्ययन भी ऐसे ही चित्र को उपस्थित करता है। आधुनिक दर्शन में दो प्रकार के मानवतावादियों की चर्चा उपलब्ध है। एक ओर डेकार्ट एवं स्पीनोजा जैसे आध्यात्मवादी विचारक हैं जो मनुष्य को आध्यात्मिक गुलामी से छुटकारा दिलाने में असमर्थ नहीं हैं दूसरी ओर हॉब्स, रूसो तथा मार्क्स जैसे मानवतावादी विचारक हैं जिन्होंने मनुष्य की वैयक्तिकता को एक तंग अथवा सामूहिक आत्मा की बलिवेदी पर न्योछावर कर दिया था। राय ऐसी मानवतावाद को रोमान्टिक मानवतावाद कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार के मानवतावाद किसी न किसी दोष से युक्त हैं तथा वे मानवीय प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित करने में असमर्थ हैं। उनके अनुसार मनुष्य एक रहस्यमय प्राणी है जिसे वे जीव विज्ञान एवं मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में उद्घाटित करने में समर्थ नहीं हो सके थे।

नव मानवतावाद की यह विशिष्टता है कि वह जीव विज्ञान एवं मनोवि-

ज्ञान के ज्ञान की आधारभूमि में मानव स्वभाव की व्याख्या करें। ऐसी ही विशिष्ट परिस्थितियों के तरह में जाकर मानव की मूल धारणा का अध्ययन करना ऐसे विचार का प्रमुख उदेश्य है। इतना ही नहीं नव मानवतावाद इसकी परीक्षा करता है कि मनुष्य किस प्रकार प्रकृति की गोद में विकसित होता रहता है। इससे ऐसा लगता है कि नव मानवतावाद विभिन्न विज्ञानों की सत्तात्मकता के आधार पर वास्तविक मनुष्य के स्वरूप का निर्धारण करता है, मनुष्य के स्वाभाविक स्वरूप को प्रतिष्ठिता करता है। ऐसीं स्थिति में आलौकिक तत्व जैसी कोई चीज मानव विकास में महत्त्व नहीं रखते। अतः स्पष्ट है कि राय मानव उद्विकास की प्रक्रिया के वास्तविक स्वरूप को ध्यान में रखते हुये यह मानते हैं कि मनुष्य वाह्य सत्ता के प्रभाव के कारण अपने को विकसित नहीं कर पाता बल्कि वह प्रकृति में, प्रकृति की महत्तम प्रक्रिया में अपने स्वभाव को रूपायित कर पाता है।

इस प्रकार नव मानवतावाद स्वाभाविक रूप से प्रकिृति में विकसित होने वाले मानव स्वभाव के महत्त्व को स्वीकारता है तथा मानता है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों में अपने को विकसित करता है। उसके विकास में किसी भी वाह्य सत्ता का कोई हाथ नहीं होता।

अब यदि हम इन परिप्रेक्ष्य में नव मानवतावादी विचार में प्रतिष्ठित नैतिकता के महत्त्व को समझने की चेष्टा करें तो हम पायेंगे कि ऐसे विचार में नैतिकता को स्वाभाविक उद्विकास की देन माना गया है। यह सहज आदेश पर आधारित होता है तथा किसी भी वाह्य सत्ता की यह देन नहीं है। राय अपने नव मानवतावाद में नैतिकता को एक प्रकार का मानवीय आचरण मानते हैं। आचरण के रूप में यह कर्त्ता के उत्तरदायित्व की पूर्वमान्यता के रूप में कार्य करता है। राय, जैसा कि उनके विचारों से स्पष्ट है, यह मानते हैं कि भौतिक जगत की पृष्ठ-भूमि में सम्पन्न होने वाली उद्विकास की प्रक्रिया ही नैतिकता की जननी है। इसका सम्बन्ध स्वयं कर्त्ता से है। अतः अन्तःकरण की अपील ही इसके महत्वपूर्ण पक्ष हैं। राय अन्तःकरण को स्पष्ट करते हैं तथा उसे सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना मानते हैं। ऐसे उत्तरदायित्व एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता के बीच कोई विरोध नहीं होता। जैसा कि राय लिखते भी है, "मैं अन्तः करण को सामाजिक उत्तर-दायित्व की चेतना मानता हूं। उत्तरदायित्व की भावना अनिवार्यतः वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी नहीं होता है।"[17]

अपने इस विचार को स्पष्ट करने के क्रम में राय समाज की उत्पत्ति में निहित अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं ताकि वे यह सिद्ध कर सकें कि सामाजिक

उत्तरदायित्व का भाव वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी नहीं है। इनके अनुसार स्वतंत्रता ही मानव मात्र की मौलिक प्रवृत्ति है। यह मानव अन्त:शक्ति की अनुभूति की राह में आने वाली बाधाओं का प्रगतिपूर्ण वहिष्करण है।

मनुष्य ने अपने स्वतंत्रता के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये समाज का निर्माण किया है। यह उनके सामूहिक प्रयास की देन है। अत: समाज की रचना आदर्श स्वतंत्रता की एक अनुभूति की एक अवस्था है। राय ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकारा है कि मानव आवेशों के रूप में अस्तित्व के लिये संघर्ष से समाज का निर्माण हुआ है।

चूँकि समाज मनुष्य के जन्मजात बौद्धिकता की देन है इसलिये मनुष्य के साथ किसी भी प्रकार के कार्यपरकता को अबौद्धिक तथा अनैतिक माना जायेगा। जिसका अर्थ समाज के विचार को चोट पहुँचाना कहा जायेगा। समाज का प्रत्येक अंग स्वतंत्रता के आदर्श द्वारा प्रेरित होते हैं। अत: जब तक समाज का अंग या व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहेगा तब तक वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के प्रति भी आस्थावान रहेगा। यदि व्यक्ति इसके अनुरूप कार्य करता है तो इसका अर्थ है कि वह अन्त:करण के अनुरुप कार्य करता है। अपने अन्त:करण के दूसरी कोई शक्ति नहीं है जो उसे अपने कर्तव्य का बोध कराये। इस दृष्टि से मनुष्य स्वयं के लिये उत्तरदायी है, स्वयं वह अपने विवेक का आदर करता है। इसी अर्थ में राय अन्त:करण को समाजिक उत्तरदायित्व का मूल प्रवृत्यात्मक चेतना की संज्ञा देते हैं। जैसा कि वे लिखते भी है, "स्वतंत्रता के आवेश की चेतना निर्णायिक कारक है, एक बार यदि यह वहाँ है, तो अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता स्वाभाविक रूप से नि:सृत होने लगती है तथा सामाजिक उत्तरदायित्व सबों के द्वारा स्वेछा से अपनाये जाने लगता है। ऐसे लोगों के समुदाय की कल्पना की जाय जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृढ़ धारणा से कार्य कर रहे हों, तो हमें एक नैतिक समाज की प्राप्ति हो जायेगी। यह नैतिक होगा क्योंकि यह विवेकसम्मत है।"[18]

यदि राय द्वारा समर्थित इस नैतिकता के विचार को स्वीकार कर लिया जाय तो शायद स्वार्थवाद एवं परार्थवाद के बीच का सदियों से चलता हुआ विवाद भी समाप्त हो जायेगा क्योंकि ऐसी नैतिकता का आधार विवेकसम्मतता होगा और विवेकसम्मत नैतिकता सर्वमान्य नैतिकता होगी। इस दृष्टि से नैतिकता का मापदण्ड स्वयं मनुष्य होगा। ऐसे ही नैतिक विचारों से मानवतावादी आचारशास्त्र का निर्माण होना संभव है जिसके राय प्रमुख समर्थक हैं। यही राय

के उग्र सुधारवादी मानवतावाद या नव मानवतावाद का आचारशास्त्रीय संदेश है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राय अपने नव मानवतावादी विचार में यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य परिस्थितियों के बीच अपना विकास कर पाता है तथा नैतिकता स्वयं उनके विवेकसम्मत आचारों की देन है। इस दृष्टि से राय के विचारों की तुलना अस्तित्ववादी विचारों से की जा सकती है। प्रमुख अस्तित्ववादी विचारक सार्त्र भी मनुष्य को परिस्थितियों के बीच विकसित होते हुए मानते हैं। राय की स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार भी सार्त्र के विचार से पूर्ण साम्य रखते हैं जहाँ उन्होंने मनुष्य होने का अर्थ ही स्वतंत्र होना माना है।[19] सार्त्र की तरह ही राय यह मानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति बुद्धिसम्मत रुप में चयन करता है, नैतिक निर्णय देता है तो वह अन्य व्यक्तियों के चयन का भी बोधक होता है।[20]

सार्त्र अन्य अस्तित्ववादी विचारकों के साथ-साथ सिचुएसनल इथिक्स (पर्यावरण से सम्बन्धित आचारशास्त्र)[21] का समर्थन करते हैं। राय भी ऐसे विचार से अपनी सहमति प्रकट करते हैं तथा मानते हैं कि नवमानवतावादी विचार में नैतिकता का महत्व परिस्थिति में प्रतिष्ठित मानव के अन्तःकरण की दृष्टि से है।

जॉन वाइल्ड ने स्वतंत्रता को बौद्धिक क्रिया के साथ तादात्म्य माना है।[22] राय भी ऐसे विचार का समर्थन करते हुये दीखते हैं तथा जॉन वाइल्ड की तरह इन्होंने भी स्वतंत्रता को समझ का साधन तथा अनुशासन स्वीकारा है।

संदर्भ-सूची

1. पॉल एडवर्डस द्वारा सम्पादित द इनसायक्लोपीडिया ऑफ फिलासॉफी, खण्ड-3, पृ०-81-82.
2. ऋग वेद, IV-23·8.
3. मुण्डकोपनिषद, III II-4
4. तैत्तरीय उपनिषद, II VII.
5. एस० राधा कृष्णन, इडियन फिलॉसॉफी, खण्ड-2, पृ०-163
6. दुखत्रयाविघाता जिज्ञासा तद् विधातकेहेतो-ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिका-कारिका-।
7. योगश्चितवृतिनिरोधः—योग सुत्र, सूत्र-2
8. भी० एच० दान्ते, वेदान्त एक्सप्लेन्ड, खण्ड-2, पृ०-447.
9. एस० राधा कृष्णन, इंडियन फिलासॉफी, खण्ड-2, पृ०-613.

10. एम० एन० राय एन्ड पी० स्प्रैट, वियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमोनिज्म,, पृ० 70.
11. वहीं, पृ०-96.
12. एम० एन० राय, रिज्न, रोमांटिसिज्म एन्ड रिवोल्यूसन, खण्ड-2, पृ०-307.
13. एम० एन० राय एण्ड पी० स्प्रैट, वियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमेनिज्म, पृ०-46.
14. एम० एन० राय, रिज्न, रोमान्टिसिज्म एण्ड रिवोल्यूसन, खण्ड-2, पृ०-306-307.
15. एम० एन० राय, रिज्न रोमान्टिसिज्म एण्ड रिवोल्यूसन खण्ड 1. पृ०-75.
16. वहीं, पृ०-81.
17. एम० एन० राय एन्ड पी० स्प्रैट, वियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमेनिज्म, पृ०-57.
18. वहीं, पृ०-72.
19. जे० सी० मिहालिच, एकझीसटेनसियलिजम एन्ड थॉमिज्म, पृ०-13.
20. ज्याँ पाल सार्त्रे, एक्झीसटेन-सियलिज्म एन्ड ह्यूमेनिज्म, पृ०-29. (पी० मैरेट द्वारा अनुदित)
21. डब्लू० डी० हडसन, एम० वारनॉक कृत एक्झीसटेनसियलिस्ट इथिक्स की सम्पादकिय आमुख में ।
22. जॉन वाइल्ड, एकझीसटेन्स एन्ड द वर्ल्ड ऑफ फ्रीडम, पृ०-6.

●

अध्याय 5

एम० एन० राय के समाजशास्त्रीय विचार

"समाज दर्शन" शब्द पाश्चात्य दर्शन के विचार के बोधक हैं क्योंकि प्राचीन भारतीय दर्शन में दर्शन की विभिन्न विधाओं का अलग-अलग विधान नहीं किया गया है। भारतीय दर्शन की सभी विधायें जीवन की विधायें हैं। जिनका विवेचन साथ-साथ देखने को मिलता है। वेदों, उपनिषदों, धर्मग्रन्थों, शास्त्रों तथा पुराणों में प्रारम्भिक काल से ही सामाजिक मान्यताओं का प्रतिपादन होता आया है किन्तु ऐसी मान्यतायें तत्कालीन सामाजिक जीवन के सूत्रीकरण से सम्बन्धित हैं। अतः आज वैसे समाज दर्शन की आवश्यकता है जो प्राचीन सामाजिक मान्यताओं का मूल्यांकन कर आधुनिक समाज के निर्माण के लिए नए मापदण्ड स्थिर कर सकें।

समाज दर्शन ज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह ही अपने पूर्व के विचारों की देन है। अतः इसके अध्ययन को इसकी पूर्व पीठिकाओं से विलग नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में मैकफरसन की उक्ति महत्वपूर्ण है जहाँ उन्होंने लिखा है कि आज का समाज दर्शन अपने पूर्ववर्त्ती अध्ययनों पर आधारित है, हो सकता है कि ऐसी पूर्व पीठिका पूर्णतः अभिव्यक्त न हो।[1] यह विचार पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों समाज दर्शन के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है।

'समाज दर्शन' दो शब्दों समाज एवं दर्शन का सम्मिलित रूप है। समाज की मान्यतायें, समाज की समस्यायें तथा समाज से सम्बन्धित अन्य विचारों का अध्ययन समाज शास्त्र में भी किया जाता है। समाज शास्त्र एवं समाज दर्शन के बीच सम्बन्ध तो है किन्तु दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं। यदि दर्शन को जीवन एवं जगत की समस्याओं की समग्रता में अध्ययन करने का विचार माना जाय तो समाजशास्त्र भी इसके क्षेत्र से अलग नहीं रह पाता है। किन्तु दर्शन का कार्य वस्तुतः विश्व के अन्तर्गत आने वाले सभी विचारों का यदि संश्लेषणात्मक रूप प्रस्तुत करना है तो समाज दर्शन निश्चित रूप से समाज से सम्बन्धित विचारों का विवेचन करता है। इस अर्थ में समाज दर्शन को समाज शास्त्र एवं दर्शन का मिलन बिन्दू स्वीकारा जा सकता है। अतः इस संश्लेषणात्मक विचार को समझने के पूर्व यह

आवश्यक हो जाता है कि दर्शन एवं समाजशास्त्र के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया जाय।

दर्शन को समान्यतया "ज्ञान के प्रति अनुराग" माना जाता है। यह धारणा पाश्चात्य विचारकों के बीच प्रचलित है। किन्तु भारतीय दर्शन में इसे परम सत्ता का ज्ञान या तत्व ज्ञान की कोटि में रखकर 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम' जैसे विचार का प्रतिपादन किया गया है। इन दोनों ही दृष्टिकोणों के अन्तिम रूप निश्चित रूप से हमें यह बतलाने में समर्थ हैं कि जीवन एवं जगत से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने तथा उनके अतल तह में पहुँचने के क्रम में निहित प्रयास ही दर्शन है। इसी क्रम में कुछ लोग इसे जगत एवं जीवन को समझने की वैयक्तिक प्रवृति, विवेकपूर्ण जिज्ञासा, विचारशील चिन्तन विधि तथा समग्र दृष्टि प्राप्त करने का प्रयास मानते हैं। इस विचार का समर्थन अनेकानेक विचारकों के विचारों में देखने को मिलता है। सी० डी० ब्रॉड ने इसे 'समग्र चिन्तन"[2] विलफ्रायड सेलर्स[3] ने विशेष विधाओं के विषय वस्तु का ज्ञान तथा रैण्डल[4] ने सामाजिक एवं व्यावहारिक क्रिया, नैतिक जीवन, धर्म, कला, विज्ञान आदि में निहित मनुष्य के मौलिक विश्वासों की समालोचना स्वीकारा है। इससे यह स्पष्ट है कि दर्शन जीवन एवं जगत की समस्याओं का निराकरण समग्रता में करने का प्रयास है। यद्यपि तार्किक भाववाद तथा विज्ञान के विकास के साथ आज यह भी धारणा प्रचलित हो चुकी है कि दर्शन शास्त्र का कार्य भाषा का तार्किक विश्लेषण एवं शब्दों तथा प्रत्ययों के अर्थ का स्पष्टीकरण है। साथ ही साथ अस्तित्ववादी विचार के विकास के साथ दर्शन एवं जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास भी पाश्चात्य दर्शन में देखने को मिलते हैं। जो कुछ भी हो दर्शन को जीवन से अलग नहीं स्वीकारा जा सकता। दर्शन के विभिन्न विचार जीवन एवं जगत से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण में ही तत्पर हैं। अतः जीवन जीने के विचार को प्रश्रय देना तथा जीवन में व्याप्त समस्याओं का निराकरण करना ही दर्शन का मुख्य कार्य माना जा सकता है।

समाजशास्त्र को सामान्यतः समाज का विज्ञान माना जाता है। इस विज्ञान को परिवर्द्धित करने का श्रेय गिन्सवर्ग, गिडिंग्स, मेकाइवर, पेज, मैक्सवेवर, सोरोकिन जैसे समाजशास्त्रियों को है। गिन्सवर्ग तथा गिडिंग्स ने जहाँ इसे समाज का विज्ञान माना है वहाँ मेकाइवर तथा मैक्सवेवर ने इसे सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन स्वीकारा है। ऐसे विचारों में कोई तात्विक भेद नहीं है क्योंकि ये सामाजिक जीवन तथा सामाजिक अध्ययन से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार ये विचार

समाजशास्त्र के सम्बन्ध में संश्लेषणात्मक विचार के बोधक हैं। कुछ विचारक इनसे भिन्न विचार रखते हैं तथा मानते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक जगत या सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन नहीं है, बल्कि सामाजिक रूपों का अध्ययन है। ऐसे विचार को आकारिक विचार कहा जा सकता है तथा इसके समर्थकों में पार्क, बर्गसाँ, कान्ट तथा जॉर्ज सिमेल का नाम लिया जा सकता है। सिमेल ने तो स्पष्टतः लिखा है कि समाजशास्त्र मानवीय अन्तरसम्बन्ध के रूप का विज्ञान है। इससे यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र समाज में मानव सम्बन्धों के प्रकारों एवं रूपों का अध्ययन करता है तथा जीवन को समग्रता में समझने की चेष्टा करता है।

दर्शन एवं समाजशास्त्र की यह संक्षिप्त रूपरेखा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायक है कि जहाँ समाज दर्शन समाजशास्त्र से विषय वस्तु ग्रहण करता है वहाँ ऐसे विषय वस्तुओं को वह दर्शन की विधि के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार जहाँ समाजशास्त्र एवं समाज दर्शन एक ही समस्या का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों तथा विधियों से अध्ययन करते हैं वहाँ दर्शन समाजशास्त्र से प्राप्त तथ्यों का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन कर समाजदर्शन के रूप को प्रतिविम्बित करता है। इस अर्थ में समाजदर्शन समाजशास्त्र एवं दर्शन का केन्द्र-स्थल है जहाँ दोनों समग्रता में संश्लेषित हो जाते हैं।

समाज दर्शन क्या है? यह प्रश्न समाज दर्शन की परिभाषा से जुड़ा हुआ है। समाज दर्शन की परिभाषा देना कठिन है लेकिन इसका वर्णन किया जा सकता है और इस वर्णन के माध्यम से इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। चूँकि प्रत्येक युग की अपनी मान्यताओं, समस्याओं तथा बदलती हुई परिस्थितियों एवं विचारों के अनुसार एक विशेष समाज दर्शन की आवश्यकता होती है, इसलिए समाज दर्शन का एक पूर्ण, अटल अथवा स्थैतिक रूप उपस्थित करना प्रायः संभव नहीं होता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज दर्शन का रूप निर्धारण किया ही नहीं जा सकता। कुछ ऐसी मान्यतायें भी होती हैं जो बदलती हुई परिस्थितियों में भी कायम रहती हैं। अतः समाज दर्शन की परिभाषा दी जा सकती है तथा इसके स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के क्रम में हमें समाज दर्शन एवं समाजशास्त्र के बीच जो सूक्ष्म विभाजक रेखा है उसे स्पष्ट कर लेना पड़ेगा।

समाजशास्त्र मानव समुदायों का उद्‌भव, उनके विभिन्न रूपों नियमों, रीति-रिवाजों, संस्थाओं, विश्वासों, चिन्तन भावना एवं क्रियाकलापों की विधियों का अध्ययन करता है। ऐसे विचार मैकेंजी[5] जैसे विचारकों का है। समाज दर्शन एक

आदर्श मूलक अध्ययन है क्योंकि यहाँ समाजिक समस्याओं का मूल्यांकन किया जाता है। यह न केवल ऐसी समस्याओं का वर्णन ही करता है बल्कि उनके आदर्श का भी निर्धारण करता है। यह सामाजिक विचारों तथा उनकी प्रतिवृतियों का भी अध्ययन करता है। इन्हीं सामाजिक विचारों एवं प्रतिवृतियों के माध्यम से यह सामाजिक आदर्शों का निर्धारण करता है। अत: जहाँ समाज दर्शन एक आदर्श मूलक अध्ययन है वहाँ समाजशास्त्र एवं अन्य समाजविज्ञान समर्थक विज्ञानों का प्रतिरुप है क्योंकि ये मुख्यत: वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हैं, उनके आदर्श का निर्धारण नहीं करते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज दर्शन तथा समाज शास्त्र एवं अन्य समाज विज्ञानों के बीच एक अनिवार्य भेद है और यह भेद उनके दृष्टिकोण को लेकर है।

दर्शन शास्त्र को यदि वैसे मानवीय प्रयास का बोधक माना जाय जहाँ व्यापक सामान्यीकरण के विस्तार, विवरण, विश्व के विभिन्न पहलूओं में निहित आनुभविक जगत से सम्बन्धित सत्यों एवं तथ्यों की व्याख्या की जाती है तो समाज दर्शन का कार्य मानव समाज की एकता, मानव जीवन के विभिन्न सामाजिक पहलूओं की व्याख्या समग्र रुप में करते हुये माना जा सकता है। अत: समाज दर्शन का महत्व सामाजिक आदर्शों एवं संस्थाओं का निर्धारण मूल्यों के दृष्टिकोण से करने में निहित है।

अत: समाज दर्शन समाज में रहने वाले मनुष्य की विशिष्ट अभिलाषाओं या आकांक्षाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में इसे 'समाज का दर्शन' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि यहाँ जीवन की समस्त रूपरेखा का प्रस्तुतीकरण मूल्यों के निर्धारण के क्रम में देखा जाता है तथा यहाँ उस मूल्य पद्धति का निर्धारण गूढ़ अर्थ एवं व्यापक महत्व के आधार पर किया जाता है। इस दृष्टिकोण से यह स्वीकारा जा सकता है कि ससाज दर्शन मानव जीवन के सामाजिक एवं वैयक्तिक पहलूओं के सामंजस्य एवं एकीकरण का स्तुत्व प्रयास है। ऐसे प्रयास की पूर्णता वैसे नियोजित समाज को स्थापना तथा संस्थाओं के निर्माण में निहित है जहाँ व्यक्तियों की विभिन्नताओं, उनके बीच धातु स्वभाव की भिन्नता, योग्यता की भिन्नता के बीच भी चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। इसका अर्थ यह है कि समाज दर्शन शून्य से उद्भूत नहीं हुआ है वरन सामाजिक तथ्यों एवं सामाजिक संस्थाओं के बीच इसका विकास हुआ है। यही कारण है कि समाज दर्शन को सामाजिक तथ्यों, समाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक परिस्थितियों की देन स्वीकार करते हुए मनुष्यों के संघर्ष एवं सहयोग के बीच एक विशिष्ट मूल्य का निर्धारण करने वाला शास्त्र माना गया है।[6] इस दृष्टिकोण से समाज दर्शन का महत्व स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

समाज दर्शन एक विचार अध्ययन है। यह अध्ययन समाज में रहने वाली मनुष्य की अनुभूति एवं जीवन से उद्भूत होता है। यह मनुष्य के निर्णय एवं परामर्श का बोधक है—वैसे परामर्श का जो मनुष्य की सामाजिक अनुभूतियों के निर्धारण से संभव हो पाते हैं। यह सामाजिक अनुभव वस्तुतः व्यक्तियों के परस्पर मिलन से उत्पन्न होता है। इस प्रकार ऐसे परामर्श को आदर्श एवं मूल्यों के परिवेश में निर्णीत परामर्श कहा जा सकता है। ऐसे परामर्श की अपेक्षा वैसे ही व्यक्ति से की जा सकती है जिन्हें मूल्य का विवेक हो। यही मूल्य की अभिदिशा मनुष्य को पशुओं से भिन्न कर इस जगत में उनका विलक्षण स्थान दिलाने में समर्थ है। मनुष्य को ही यह क्षमता प्राप्त है कि वह उचित एवं अनुचित के बीच भेद कर सकता है। ऐसे विचार का समर्थन मनोविज्ञान के हॉरमिक सम्प्रदाय में भी देखने को मिलते हैं जहाँ यह स्वीकार क्रिया गया है कि मनुष्य ही एक लक्ष्य की ओर निर्देशित रहता है क्योंकि उसका यह स्वभाव ही है तथा जिस स्वाभाविक लक्ष्य की ओर वह निर्देशित रहता है। वह लक्ष्य उसके जीवन को तथा जीवन की चेतन क्रियाओं एवं व्यवहारों को मूल स्वर प्रदान करता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का सार निर्णायक तत्व स्वतंत्रता है। मानवीय धरातल पर सामाजिक परम्परा उसे वैसा माध्यम प्रदान करता है जिसमें वह कार्यरत रहता है तथा यही क्रियाकलाप बहुत हद तक उनके विभिन्न वंशपरम्परागत भावनाओं तथा अभिव्यक्तियों का निर्धारण करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य सबसे आश्चर्यजनक जीव है जहाँ जड़ तत्व, जीवन, मन, विवेक तथा आध्यात्म का संयोजन देखा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाज दर्शन मानव जीवन- की समस्याओं का अध्ययन सामाजिक पृष्ठभूमि में करता है तथा इसके रूप को सामाजिक एकता के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः यह वैसे मूल्यों, उद्देश्यों, प्रयोजनों एवं आदर्शों का विवरण प्रस्तुत करता है जिनके फलस्वरूप आदर्श समाज की संरचना का रूप उपस्थित हो पाता है। सामाजिक तथ्य अत्यन्त ही जटिल होते हैं तथा उनके बीच जहाँ एक ओर परस्पर सम्बन्ध देखने को मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर उनके बीच विभेदों को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता है। ये सम्बन्ध एवं विभेद के बीच उलझे हुये सामाजिक तथ्य बिना सरल, सुव्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण व्याख्या के समझे नहीं जा सकते। मात्र व्याख्या से समाज दर्शन का केवल सैद्धान्तिक पक्ष स्पष्ट हो पाता है। यहाँ यह समाज के विषय में विचारशील चिन्तन उपस्थित करता है किन्तु इसका व्यावहारिक पक्ष भी है। यह व्यावहारिक पक्ष सामाजिक आदर्श के निर्धारण मात्र से ही सम्बन्धित नहीं है बल्कि उनके व्यवहार से भी सम्बन्धित है। ऐसी परिस्थिति में समाज दर्शन सामाजिक तथ्यों का मूल्यांकन

ही करता है। अतः सच्चा समाज दर्शन सामाजिक तथ्यों के विश्लेषण एवं मुल्यांकन दोनों से ही सम्बन्धित है। सच्चे समाज दर्शन में उनके सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का समन्वय देखा जाता है। अतः समाज के उच्चतम आदर्श की स्थापना तथा उन आदर्श की आधारभूमि में सामाजिक तथ्यों का मूल्यांकन वास्तविक समाज दर्शन का लक्ष्य है। ऐसे समाज दर्शन को न तो मात्र व्यक्तिवादी कहा जा सकता है और न मात्र समाजवादी की संज्ञा ही दी जा सकती है। ऐसे समाज दर्शन श्री अरविन्द के अनुसार "सर्वांग समाज दशन' है जहाँ व्यक्ति के हितों एवं समाज के हितों के बीच परस्पर विरोध नहीं बल्कि पूर्ण सामंजस्य है। ऐसे समाज दर्शन की स्थापना ही 'पूर्ण मानव', 'पूर्ण समाज' एवं 'पूर्ण विश्व समुदाय' के निर्माण में कल्याणकारी योगदान देने में सफल है।

प्रत्येक विचार परम्परा अथवा दार्शनिक या वैज्ञानिक विधाओं की अपनी-अपनी समस्याएँ हुआ करती हैं। समाज दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। इसकी भी अपनी समस्या है तथा इन समस्याओं के समाधान में ही इसका वास्तविक रूप निखर पाता है। अतः समाज दर्शन के सही स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी प्रमुख समस्याओं पर विचार किया जाय।

समाज दर्शन का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। चूँकि प्रत्येक घटनाओं का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज से है इसलिए बहुत सारे समाज दर्शन के वेत्ताओं ने सामाजिक क्रम, राष्ट्रीय क्रम तथा जगत या विश्व के क्रम को समाज दर्शन की व्यापक परिधि के अन्तर्गत अध्ययन करना श्रेयस्कर समझा है। ऐसे विचारकों में जे० एस० मैकेन्जी[7] का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। ऐसी व्यापक परिधि में इन्होंने मानव स्वभाव से लेकर अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों, धर्म तथा संस्कृति जैसे विचारों को भी सन्निहित किया है। वस्तुतः समाज दर्शन की समस्यायें ऐसी ही व्यापक परिधि के परिणाम हैं। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों में जुड़ा रहता है अथवा हम कह सकते हैं कि उसके विचार सामाजिक मूल्यों, आदर्शों तथा उद्देश्यों से स्वतंत्र होकर समृद्ध नहीं हो पाते हैं। ये सामाजिक संस्थाओं की देन है। अतः कभी-कभी सामाजिक संस्थाओं के आधार निर्धारण की समस्या समाज दर्शन की प्रमुख समस्या हो जाती है। ऐसी समस्या का सीधा सम्बन्ध सामाजिक संस्थाओं का आधार स्वाभाविक है या कृत्रिम, जैसे प्रश्नों से देखा जा सकता है। ग्रीक दर्शन में प्लेटो, अरस्तु, स्टोइक के पक्ष तथा सॉफिस्टों के पक्ष के बीच के विवाद ऐसी आधारभूत समस्या का स्पष्ट उदाहरण है। अतः समाज दर्शन के समक्ष ऐसे विवाद के निराकरण की समस्या प्रमुख समस्या है। समाज दर्शन का कार्य ऐसी समस्याओं का

समाधान करना है कि सामाजिक संस्थाओं का अधार स्वाभाविक है या कृत्रिम, ताकि समाज दर्शन के रूप एवं विषय स्पष्ट हो सकें।

आधार के अतिरिक्त ऐसी सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्य का भी प्रश्न जटिल है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन किसी न किसी लक्ष्य या उद्देश्य के द्वारा निर्देशित देखे जाते हैं तथा इन उद्देश्यों की पूर्ति या इन लक्ष्यों की सिद्धि का निर्धारण करना भी समाज दर्शन की एक समस्या है यहाँ इसे यह देखना है कि कहाँ तक मनुष्य-मनुष्य के कल्याण या मनुष्य समाज के कल्याण या समाज-समाज के कल्याण में रत होकर इसकी सिद्धि में समर्थ है।

आधार एवं उद्देश्य के अतिरिक्त लक्ष्यों की एकरूपता का उद्घाटन भी समाज दर्शन की एक प्रमुख समस्या है। जब तक एकरूपता के लक्ष्य की सफल सिद्धि न हो तब तक समानता, स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय जैसे लक्ष्यों का कोई महत्व नहीं रह जाता तथा समाजवाद तथा साम्यवाद जैसे धाराएँ कल्पित विचारधारा के रूप में प्रतिष्ठित रह जाती है। अतः समाज दर्शन के सामने यह ससस्या है कि निर्धारित लक्ष्यों की एकरूपता की पूर्ति हो। इस अर्थ में समाज दर्शन की मुख्य समस्या उच्चतम आदर्शों की स्थापना तथा उसका सफलता पूर्वक पालन है। ऐसी समस्या का भाव महान कवि इमर्सन[8] ने अपनी कविता में उपस्थित किया है जहाँ मानव मात्र के आरोहण की ओर इन्होंने संकेत किया है। अंत में समाज दर्शन अपनी विशिष्ट विधि द्वारा विभिन्न समाज विज्ञानों की मान्यताओं, कल्पनाओं का विवेचन विधि एवं विश्लेषण कर समाज के उच्च आदर्शों की प्राप्ति में योगदान देता है, यह भी समाजदर्शन की प्रमुख समस्या है।

सामाजिक मान्यताओं तथा व्यक्ति एवं समाज से सम्बन्धित समस्याओं का सीधा सम्बन्ध मनुष्य से है। यदि मानव मात्र को अन्य जीवों से अलग कर सोचा जाय तो निश्चित रूप से समाज दर्शन का निर्माण ही नहीं होगा। अतः समाज दर्शन की केन्द्रीय समस्या मानव स्वभाव के अध्ययन की समस्या है। मानव स्वभाव पर ही समाज का क्रम एवं एकता आधारित है। ऐसे ही अध्ययन की ओर हॉब्स, लॉक, तथा रुसो जैसे समाज दार्शनिकों ने संकेत किया है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि समाज दर्शन की मुख्य समस्या मानव स्वभाव का अध्ययन विभिन्न पहलूओं में करना है। ऐसे ही सामान्य मानव स्वभाव से मानव का सामाजिक स्वभाव उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरुप समाज दर्शन का भांडार तथ्यों से परिपूर्ण होता है। ऐसी

ही स्थिति में समाजदर्शन मूल्यों, लक्ष्यों अथवा आदर्शों के निर्धारण के प्रयास का अध्ययन है। जे० एस० मैकेन्जी ने तो इसे स्पष्ट करते हुए लिखा भी है, "समाज दर्शन मानव समुदाय की समाजिक एकता पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है तथा इस एकता के संदर्भ में मानव जीवन के विशिष्ट पहलूओं के अर्थ को स्पष्ट करता है।"[9] मानव स्वभाव के विवेचन तथा सामाजिक जीवन की एकता के विश्लेषण का आधार भी दार्शनिक है। यहाँ दार्शनिक कहने का अर्थ समस्याओं का विवेचन विशिष्ट दृष्टिकोण से करना है अथवा किसी भी समस्या का सर्वांग चित्र उपस्थित करना है। इस अर्थ में समाज दर्शन की मुख्य समस्या समाज के दार्शनिक आधारों का विवेचन करना भी है।

यदि हम समाज दर्शन की मुख्य समस्याओं को अलग कर देखना चाहेंगे तो इन्हें समाज दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास के माध्यम से ही देखा जा सकता है। वस्तुत: आज जो समाज दर्शन की समस्यायें हैं वही समस्यायें पहले भी थीं। अन्तर केवल उनके पहलूओं में देखने को मिलते हैं, वैसे पहलूओं में जो तात्कालीन सामाजिक परिवेशों की देन है। इस तरह यदि हम समाज दर्शन की समस्या को प्रश्नों के घेरे में बाँधना चाहें तो कह सकते हैं कि मानव समाज कहाँ तक स्वाभाविक माने जा सकते हैं ?

यदि यह कहा जाय कि मानव समाज शुद्ध, स्वच्छन्द अथवा रुढ़िवादी है तो वैसी स्थिति में हमें मानव समाज की रचना को वाह्य निर्धारकों, आकस्मिक परिस्थितियों की देन माननी होगी। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि मानव समाज स्वाभाविक है तो फिर हमारे सामने यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि किस अर्थ में यह स्वाभाविक है तथा किन रूपों में इनके मौलिक स्वरूप विकसित होते हैं ? इस सम्बन्ध में प्लेटो एवं अरस्तु के विचारों का प्रसंग निर्देश किया जा सकता है। इन्होंने सोफिस्टों के विचारों का विरोध करते हुये यह स्वीकारा है कि जो स्वाभाविक है उसका अनिवार्यत: नियत होना आवश्यक नहीं है। इतना ही नहीं ये यह मानते हैं कि मानव स्वभाव के विशेष पहलुओं के कारण विशेष प्रकार के क्रम का उद्भव होता है। यद्यपि ऐसे क्रमों में शृंखलाबद्धता नहीं देखी जाती फिर भी उन्हें विधि एवं विवेक से विहीन नहीं माना जा सकता। उन्होंने तो स्पष्टत: यह स्वीकार किया है कि मनुष्य का विवेकी स्वभाव क्रम के निश्चित सिद्धांत को उत्पन्न करते हैं। वैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकारा है कि नैतिक जगत में प्राकृतिक नियम कार्यशील रहते हैं तथा मानव समाज की रचना इससे वंचित नहीं रह जाती। अत: मानव जीवन में तथा भौतिक जगत में क्रम देखने को मिलते हैं। इस प्रसंग में सामाजिक संविदा

के सिद्धांतों का भी प्रसंग निर्देश किया जा सकता है, विशेषकर रूसों के विचारों का जहाँ उन्होंने यह माना है कि मनुष्य स्वतन्त्र होकर जन्म लेता है किन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में बन्धा हुआ दिखाई देता है। इसका अर्थ शायद यह भी हो सकता है कि सामाजिक बन्धनों में बन्धे मनुष्य ही कभी-कभी अपने को परतन्त्र महसूस करता है। यदि सामाजिक बन्धन न रहे तो सर्वत्र विधि की विहिनता एवं क्रमहीनता देखी जायेगी। ऐसी स्थिति में मानव जीवन ही निरर्थक हो जायेगा। यदि मनुष्य मनुष्य की तरह रहना चाहता है तो वह अपने को मानव समुदाय से अलग नहीं कर सकता। ऐसी ही स्थिति में उसके व्यवहारों में एकरूपता देखी जाती है तथा उसके स्वभाव का सम्यक विकास होता है। इस प्रकार प्रकृति के माध्यम से विकसित मानव समाज मानव के विशेष स्वरूप को उत्पन्न करने में सक्षम होता है। समाज दर्शन ऐसे ही मानव के विशिष्ट स्वभाव का अध्ययन प्रस्तुत करता है। यही समाज दर्शन की मुख्य समस्या है। इस समस्या का सीधा सम्बन्ध स्वभाविकता बनाम रुढ़िवादिता से है जिसके माध्यम से सामाजिक नियमों विशेषकर नैतिक एवं राजनैतिक नियमों का निर्धारण होता है। समाज दर्शन मानव स्वभाव के विशिष्ट स्वरूप का अध्ययन इसी पृष्टभूमि में वस्तुनिष्ठ रूप से उपस्थित करता है।

समाज दर्शन का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि समाज दार्शनिक सामाजिक धारणाओं का अध्ययन करते हैं ताकि सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक धरातल पर मनुष्य के विशिष्ट स्वभाव को उपस्थित किया जा सके। समाज दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राकृतिक परिवेश में परिवर्तन के साथ सामाजिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। जैसे ग्रीक विचारकों द्वारा समर्थित साहस एवं प्रेम के विचार आज प्रभुत्व अथवा स्वतंत्रता के विचारों में परिवर्तित हो गये हैं। फिर भी अरस्तु द्वारा समर्थित न्यायपरायणता तथा निर्णय सम्बन्धी विचार आज भी अपना महत्त्व बनाये हुए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि एक युग तथा दूसरे युग में सामाजिक अवधारणाओं के सम्बन्ध में समाज दार्शनिकों द्वारा दिये गए बल की मात्रा में परिवर्तन आ जाता है तथा समाज दार्शनिक विशिष्ट सामाजिक पृष्ठभूमि में उन सामाजिक धारणाओं को स्पष्ट करते हैं तथा उन्हें पारिभाषित करते हैं। अतः जहाँ समाज दर्शन के विषय वस्तु में कोई परिवर्तन नहीं आता तथा समाज दर्शन की समस्यायें सतत अक्षुण्ण रहती हैं, उनके अध्ययन विधि में परिवर्तन देखा जाता है। यदि हम यह कहें कि समाज दार्शनिक सामाजिक अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं तथा विज्ञान द्वारा किए गए अनुभविक अन्वेषण को इन सामाजिक अवधारणाओं के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं तो

शायद हम समाज दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण समस्या के सूक्ष्म रूप का सही पता लगाने में समर्थ हो सकेंगे ।

समाज दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या आदर्श समाज की रचना करना भी है। महान ग्रीक विचारक प्लेटो ने आदर्श समाज की परिकल्पना की है। यद्यपि बाद के समाज दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट प्रसंग निर्देश नहीं किया है फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि समाज दर्शन की समस्या आदर्श समाज की रचना का मार्ग प्रशस्त करना है। यहाँ मार्क्स के इस विचार का प्रसंगनिर्देश अपेक्षित प्रतीत होता है जहाँ उन्होंने यह स्वीकार किया है कि दार्शनिकों का काम समाज में आमूल परिवर्तन लाना है। ऐसे परिवर्तन के आधारस्वरूप हम आदर्श समाज की रचना के उद्देश्य को मान सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि विवेक एवं परिवर्तन की आधार शिला पर आधारित आदर्श समाज की रचना भी समाज की प्रमुख समस्या है।

समाज दर्शन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में समाजिक चेतना का सृजन करना भी है। ऐसी सामाजिक चेतना का उद्विकास एक विशेष उद्देश्य से होता है तथा एक विशेष विधि के प्रयोग द्वारा इसकी संभावना हो पाती है। यही सामाजिक चेतना समाज दर्शन एवं विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का केन्द्रस्थल है। समाज दार्शनिक निर्धारित विधियों का प्रयोग कर ऐसी चेतना को जगाने में समर्थ होते हैं। समाज दर्शन के परिवेश में ऐसी ही चेतना का महत्त्व तथा ऐसी ही चेतना की व्यावहारिकता देखी जाती है। अतः सामाजिक चेतना को प्रोन्नत करना भी समाज दर्शन की एक मुख्य समस्या है। इसे और स्पष्ट करने के लिये हमें समाज विज्ञानों के दर्शन तथा वास्तविक समाज दर्शन के बीच भेद करना चाहिए। प्रथम का अर्थ प्रणाली विज्ञान से है जबकि दूसरे का अर्थ ऐसे प्रणाली विज्ञान द्वारा सामाजिक चेतना के विकास से है। प्रथम समाज का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है जबकि दूसरा समाज का दर्शन उपस्थित करने में समर्थ होता है। इस अर्थ में समाज दर्शन को समाज विज्ञान की विधियों के रूप में स्वीकारा जा सकता है जिसके द्वारा सम्यक सामाजिक चेतना की प्रोन्नति सम्भव हो पाती है। सामाजिक चेतना को सामाजिक दायित्व का मौलिक तत्व माना गया है क्योंकि इसके द्वारा उत्तरदायित्व की संरचना स्पष्ट हो पाती है तथा इनके फलस्वरूप आकांक्षा, स्वीकृति, अनुमति, दण्ड तथा पुरस्कार जैसे तथ्यों का प्रतिदिन के जीवन में अस्तित्व के संदर्भ में निर्धारण होता है। इसी अर्थ में गिभसन विन्टर[10] ने भी सामाजिक चेतना को

सामाजिक दायित्व का मुख्य संगठक, उपादान या अवयव माना है। इस प्रकार सामाजिक चेतना से सामाजिक दायित्व को बल मिलता है तथा इसके फलस्वरूप सामाजिक तादात्म्य का विकास होता है। यही सामाजिक तादात्म्य उत्तरदायित्व-पूर्ण समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।[11] इस अर्थ में समाज वैज्ञानिक एवं समाज दार्शनिक दोनों का ही लक्ष्य मानव विवेक को सही अर्थ में समझने में निहित है, जैसा कि मैकफरसन ने लिखा भी है, "उनके बीच मानव स्वभाव को सही रूप में समझने के लक्ष्य को लेकर समझने में भेद नहीं है बल्कि उनके विधि को लेकर भेद है।"[12] अतः यह स्वीकार करने में तनिक भी हिचक नहीं होनी चाहिए कि समाज दार्शनिकों की मुख्य समस्या को लेकर वे समाज वैज्ञानिकों के साथ मतैक्य रखते हैं।

इस विचार को और अधिक स्पष्ट करने के क्रम में पुन: समाज दर्शन एवं समाज विज्ञान के प्रश्न पर विचार आवश्यक है। जहाँ तक दर्शन की देन का प्रश्न है इसे ऐतिहासिक तत्त्व के रूप में ही समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में ग्रीक विचारकों के विचार को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। पाश्चात्य जगत में इन्हें ही समाज के प्रथम अध्ययन करने का श्रेय प्राप्त है। इस मौलिक अध्ययन के बावजूद भी उन्हें आज के अर्थ में समाज वैज्ञानिकों की संज्ञा नहीं दी जा सकती। लेकिन इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि आज का समाज विज्ञान इन्हीं दार्शनिकों के दर्शन का प्रतिफलित रूप है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि सभी विज्ञान दर्शन की ही देन हैं किन्तु समाज विज्ञान के क्षेत्र में यह स्वीकारा जा सकता है कि इन्होंने अपने विकास के क्रम में अन्य विज्ञानों के विकास की अपेक्षा अधिक समय लिया है। सत्य तो यह है कि बिना आरम्भ के न तो विकास हो सकता है और न विकास दिशा में मौलिक परिवर्तन ही। अतः दार्शनिकों को ही यह श्रेय प्राप्त है कि इन्होंने समाज विज्ञानों को इनके शैशव काल से ही पालन पोषण के दायित्व का निर्वाह किया है तथा इन समाज विज्ञानों को आज समर्थक समाज विज्ञान के रूप में फलित होने में सहायता की है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एडम स्मिथ, समाज शास्त्र एवं राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में कार्ल मार्क्स, मनोविज्ञान के क्षेत्र में जेम्स इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि इन विचारकों का विचार क्षेत्र बड़ा ही व्यापक रहा है और इनके द्वारा समर्थित विज्ञानों के क्षेत्र भी परस्पर अंशाच्छादित होते रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि समाज-विज्ञानों के क्षेत्र में भी दर्शन की अभूतपूर्व देन है। आज जब दर्शन का क्षेत्र और भी अधिक व्यापक हो गया है जहाँ इनका कार्य विभिन्न विज्ञानों की धारणाओं का

स्पष्टीकरण प्राय: मूल रूप में उभर आया है, इसने समाज विज्ञानों के क्षेत्र में भी अपनी देन को छोड़ा नहीं है। तार्किक भाववाद तथा इनके परवर्ती विकास के रूप में अद्भूत धारणात्मक विश्लेषणवाद या भाषा विश्लेषणवाद आज भी समाज विज्ञानों के साथ-साथ अन्य विज्ञानों की विभिन्न धारणाओं की स्पष्टता के महत्व को विकसित करने में योगदान दे रहे हैं। इस संदर्भ में प्रभुत्व उत्तरदायित्व अभिप्रेरक तथ्य तथा मूल्य जैसी धारणाओं की चर्चा समाज के अध्ययन के क्रम में की जा सकती है जिसका स्पष्टीकरण समाज दार्शनिक भाषा विश्लेषण के क्षेत्र में करते हुए दीखते हैं। इनका महत्त्व मैकफरसन ने स्पष्टतः स्वीकारा है तथा माना है कि धारणात्मक स्पष्टता के बिना कोई भी अनुभविक अन्वेषण मूल्य विहिन है।[13]

इससे स्पष्ट है कि अनुभविक अन्वेषण दार्शनिकों का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है तथा ऐसे लक्ष्य की पूर्ति वे आदर्श के सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर भी करते हैं। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता है कि इस विधि द्वारा भी वे सत्ता को प्रकाश में ला पाते हैं। अत: समाज विज्ञानों के क्षेत्र में दार्शनिकों द्वारा अपनाये गए प्रणाली विज्ञान महत्वपूर्ण हैं तथा उनके द्वारा सामाजिक नियमों के स्वरूप पर किये गए कार्य भी श्लाघनीय हैं।

अधिकतर समाजशास्त्री इसे स्वीकार करने में नहीं हिचकते कि दर्शन का महत्त्व उनके अध्ययन में भी सहायक है। किन्तु दर्शन शास्त्र के प्रतिपादकों को यह शायद ज्ञान नहीं होता कि समाजशास्त्र का अध्ययन भी उनके लिए महत्त्वपूर्ण है। सत्य तो यह है कि आज का समाज विज्ञान दार्शनिकों को चिन्तन करने के लिए अत्यधिक सामग्रियाँ प्रस्तुत करते हैं किन्तु यदि दार्शनिक इन सामग्रियों का उपयोग नहीं करते तो इसमें दोष समाज वैज्ञानिकों का नहीं है बल्कि दार्शनिकों का है। यदि समाज दार्शनिक अपना लक्ष्य सामाजिक धारणाओं के स्पष्टीकरण के लिए प्रणाली विज्ञान की रचना करना चाहते हैं तो इसके लिए यह भी जरूरी है कि वे समाज विज्ञानों द्वारा प्रदत्त तथ्यों का अध्ययन करें तथा उनका ज्ञान प्राप्त करें। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज वैज्ञानिकों तथा समाज दार्शनिकों को एक दूसरे के अध्ययनों से बहुत अधिक प्रभावित होना चाहिए तथा पूर्ण सक्रियता के साथ एक दूसरे के विचारों को ग्रहण करना चाहिए ऐसे परस्पर ग्रहण की प्रणाली को प्रभुत्व अधीनता अथवा श्रेष्ठता हीनता मनोग्रन्थि का सर्वथा अभाव होना चाहिए। सत्य तो यह है कि दोनों को ऊपर उठकर समाज में निदान करने वाले मनुष्यों को पूर्ण रूप से समझाने का कार्य करना चाहिए।[14]

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है समाज में निवास करने वाले मनुष्य को किस प्रकार समाज दर्शन समझ पाता है, स्पष्ट कर पाता है तथा नये रूप में उपस्थित कर पाता है ? ऐसे ही प्रश्न के साथ दूसरा प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि समाज क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो विचारों को उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है— एक मेकियावेली के विचार और दूसरा कार्लमार्क्स के विचार। दोनों में ही समाज को तथा समाज में रहने वाले मनुष्य को समझने का सफल प्रयास देखने को मिलता है किन्तु दोनों के बीच भेद दोनों के दो युगों में होने के कारण है। युग की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य परिवेशों के कारण विधि की भिन्नता स्पष्टतः देखने को मिलते हैं। यह विचार मेकियावेली रचित—'डीसकोर्सेस ऑन द फर्स्ट टेन बुक्स ऑफ टाइटसलिभियस' के ग्यारहवें अनुच्छेद के दूसरे अंश से स्पष्ट है। इसी प्रकार मार्क्स द्वारा अपनाई गई विधि उनके 'कॉम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' में निहित है। अध्ययन विधि में भिन्नता के बावजूद उनके समाज में रहने वाले मनुष्य सम्बन्धी विचार व्यावहारिक रहे हैं तथा परिवेशों तथा उदेश्यों को ध्यान में रखकर युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए दोनों ने ही समाज में व्याप्त बुराइयों को अभिसाधित करने का निरुपन अथवा निदान ढूँडा है। ये निदान आज भी यथार्थ हैं तथा भविष्य में भी यथार्थ होने की क्षमता रखते हैं। इन उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज दार्शनिक समाज को समझने की चेष्टा करते हैं। जबकि समाज वैज्ञानिक उन्हें विभिन्न समाजों को समझने के सम्बन्ध में विषयवस्तु प्रदान करते हैं। अतः दोनों का काम परस्पर एक दूसरे की सहायता लेना है तथा अपने-अपने अन्वेषणों द्वारा समाज के अध्ययनों को व्यापक, सूक्ष्म तथा महत्त्वपूर्ण बनाना है। यद्यपि दोनों के कार्यों में कोई मौलिक भेद नहीं है तथा दोनों के लक्ष्य मूलतः एक ही है इसलिए यह मान लेना कि दोनों के क्षेत्र एक ही हैं न्यायोचित नहीं है। यदि समाज वैज्ञानिक विभिन्न समाजों के अध्ययन के आधार पर समाज दर्शनों के तथ्यों की आपूर्ति करते हैं तो समाज दार्शनिक भी इस तथ्य से पूर्णतः अवगत होते हैं कि समाज विभिन्न समाजों के आधार पर अमूर्त्तबोधन की प्रक्रिया द्वारा सामान्यतया पूर्ण एवं आदर्श रूप में उपस्थित हो पाते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि समाज विज्ञान की तरह समाज दर्शन भी नूतन विकास की प्रक्रिया के अनिवार्य अंग होते हैं और विशेष युग की परिस्थिति के अनुरूप यहाँ भी अध्ययन की विधियों में समाज की कुरीतियों को दूर करने के क्रम में परिवर्तन लाना पड़ता है। किन्तु समाज वैज्ञानिकों से भिन्न समाज दार्शनिक अपने अतीत को नहीं भूलते। समाज दार्शनिक अतीत की अतल गहराइयों में पैठकर अपने युग के अनुरूप वहीं

से अपना आरम्भ विन्दू करने का प्रयास करते हैं। प्लेटो, हॉब्स, रूसो तथा अन्य समाज दार्शनिकों का मत आज भी महत्त्पूर्ण ही है। इस प्रकार समाज दर्शन का मूल उद्देश्य समाज में रहने वाले व्यक्तियों को समझने का सफल प्रयास है। सामाजिक चेतना, सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक उद्विकास को समझने के लिए वैसी विधि या विधियों का अन्वेषण करना है जो मनुष्य एवं मनुष्य के बीच, मनुष्य एवं समाज के बीच तथा समाज एवं समाज के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध का मार्ग प्रशस्त कर सके। इस दृष्टि से समाज दर्शन का अध्ययन विकास की प्रक्रिया के क्षितिज पर आदि नूतन प्रयास है।

दृष्टिकोण की भिन्नता के बावजूद पाश्चात्य समाज दर्शन एवं भारतीय समाज दर्शन की एकतत्वता को अस्वीकारा नहीं जा सकता है। प्रथम का आधार जहाँ जीवन एवं जगत की समस्याओं का सैद्धांतिक निरुपन करना है वहाँ दूसरे का सम्बन्ध इनके सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों के निरुपन से है। भारतीय चिन्तकों ने जीवन की समस्याओं को ऐसा लगता है कि बहुत निकट से देखा है। अतः जीवन और दर्शन के बीच गहरे सम्बन्ध की स्थापना ही भारतीय दर्शन की आधार शिला है। भारतीय दार्शनिक विचार के क्रमिक इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि भारतीय समाज का आधार आदर्शवादी रहा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय दर्शन यथार्थवाद से दूर है। वस्तुतः यथार्थवादी आदर्श वाद[15] ही इसकी आधारभूमि रही है। यही वह विचार स्थल है। जहाँ धर्म निरपेक्षता एवं आध्यात्मिकता को कभी भी एक दूसरे से अलग नहीं समझा गया है। यह भी सत्य है कि अनादि काल से ही भारत में जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर अधिक बल दिया गया है और जीवन के चरम सत्य को पाने के लिए भारतीय विचारकों ने आध्यात्मिक और नैतिक विचारों को जीवन का अंग मान लिया है। किन्तु ऐसी आध्यात्मिकता का आधार धर्मनिरपेक्षता भी रहा है। भारतीय शास्त्र एवं पूराण इस तथ्य के साक्षी हैं। इनमें व्यक्ति के लिए उसके धर्म एवं कर्त्तव्यों के आधार पर समाज में उसकी प्रगति का सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास का पता चलता है। यहाँ पर भारतीय समाज दर्शन पाश्चात्य समाज दर्शन से भिन्न है। पाश्चात्य समाज दर्शन व्यक्ति के आधार पर बल देता है जब कि भारतीय समाज दर्शन में कर्त्तव्यों की महत्ता स्वीकार की गई है। विचार की विनम्रता के बहुत सारे उदाहरण प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं। अथर्ववेद में इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध है। यहाँ यह माना गया है कि व्यक्ति ऋण एवं दायित्व को लेकर जन्म लेता है और अपने पूरे जीवन उन्हीं ऋणों एवं दायित्वों से मुक्ति

पाने का प्रयास करता रहता है। "हम इस जगत में, इस जगत से परे अन्य जगत में तथा उस जगत से भी परे जगत में ऋण मुक्त होवें। जो संसार भगवान एवं परम पिता द्वारा निर्मित है उस संसार में हमलोग ऋणमुक्त होने की कामना के साथ आगे बढ़ सकें।"[16] यहाँ ऋणमुक्त होने का प्रयोग सामान्य अर्थ में नहीं बल्कि दायित्व के अर्थ में हुआ है। यदि कोई व्यक्ति तत्सम्बन्धी भावना से प्रेरित होकर जीवन क्षेत्र में कार्यरत रहता है तो वह निष्काम भाव से दायित्वपूर्ण जीवन जीने में समर्थ हो पाता है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक अपने सम्पूर्ण जीवन काल तक अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह करने का प्रयत्न करते रहते हैं और ऐसा करके वे मोक्ष की प्राप्ति में समर्थ हो पाते हैं। मनुस्मृति भी ऐसे विचार का समर्थन करती है— "अपने गार्हस्थ्य जीवन के दायित्व एवं कर्त्तव्य को पूरा कर ऋषि पितृनवादेव ऋण से मुक्त हुए व्यक्ति को समस्त वस्तुओं को अपने पुत्र को देकर पुत्र के घर में निर्विकार रूप से वास करना चाहिए। उन्हें अपनी आत्मोन्नति के लिए घर में रह कर ही विरक्त भाव से आध्यात्मिक चिन्तन करना चाहिए क्योंकि इसी से उन्हें सर्वोच्च आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।"[17]

भारतीय ज्ञान-विज्ञान के प्राचीनतम् ग्रन्थ वेदों में तत्कालीन व्यक्ति एवं सामाजिक जीवन का वर्णन विकासात्मक दृष्टिकोण से किया गया है। इनके अनुसार विकास की प्रक्रिया अपनी गोद में व्यक्ति और समाज को रख हुए है और दोनों विकास के विभिन्न स्तरों से आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गुजरते हैं। व्यक्ति के जीवन का विकास चतुर्दिक स्तरों से गुजरते हुए देखा जा सकता है। ब्रह्मचर्य जीवन की प्रथम अवस्था है, गार्हस्थ द्वितीय, वानप्रस्थ तृतीय तथा सन्यास जीवन की अन्तिम अवस्था है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास समाज में होता है और उसकी अभिव्यक्ति भी समाज में ही देखी जाती है। यही वह समाज है जहाँ चारो वर्ण ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने निर्देशित दायित्वों को पूरा करके अपना विकास करते हैं। यही वह समाज है जहाँ तथा जिसके द्वारा व्यक्ति अपने-अपने वर्णों के अनुसार अपने लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं तथा अपने विचारों, दायित्वों एवं कर्त्तव्यों द्वारा उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार तत्कालीन वर्ण व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज का ढाँचा एक आदर्श ढाँचा था। वेदों में पुरुष एवं नारी को समान रूप में अधिकार प्राप्ति की चर्चा उपलब्ध है। यहाँ उन्हें समान महत्व दिया गया है तथा उनके विकास के समान अवसर की चर्चा की गई है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऐसी समानता का वर्णन उपलब्ध है। इतना ही नहीं, यहाँ स्पष्टत: शिक्षा के महत्व को चित्रित करते हुए पुत्र एवं पुत्रियों की शिक्षा पर भी

अधिक बल दिया गया है। प्राक् वैदिक काल की प्रसिद्ध नारियों की महत्ता इस बात का प्रमाण है।

इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था और वैयक्तिक जीवन आश्रम व्यवस्था के नियमों से संचालित होता था। यह आश्रम व्यवस्था वास्तव में उन कर्तव्यों का संगठित रूप था जो मनुष्य को आध्यात्मिक आदर्श की ओर ले जाने में पूर्ण समर्थ था। ऐसी व्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति अपने शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम, धार्मिक कृत्यों एवं संयम, निःस्वार्थ और आत्मा को शुद्ध रूप में पहचान सकता है। इस प्रकार व्यक्तियों के जीवन के ये चार भाग अर्थात् आश्रम व्यवस्था व्यवस्थित जीवन की शाश्वतता को सिद्ध करते हैं। भारतीय जीवन में आश्रम व्यवस्था की महत्ता का चित्रण करते हुये डसेन ने लिखा है, "सम्पूर्ण जीवन को धीरे-धीरे तपस्चर्या के सोपानों को तीव्र करने में बिताना चाहिये जिसके द्वारा मनुष्य सांसारिक आसक्तियों से अनासक्त होकर अष्ट के योग्य हो सके। ऋगवेद में भी पारलौकिक जगत सम्बन्धी ऐसे वर्णन उपलब्ध हैं। मानव जाति का सम्पूर्ण इतिहास इस विचार की महिमा से प्रभावित है।"[18]

परिवार एवं विवाह जैसी सामाजिक संस्थायें प्राचीन भारत में काफी लोकप्रिय थीं। ऐसा समझा जाता था कि कोई भी यज्ञ बिना पत्नी के भाग लिये हुए पूर्ण नहीं हो सकता है। विवाह को एक धार्मिक संस्कार समझा जाता था। इसे दो व्यक्तियों के बीच न सिर्फ कर्त्तव्यों के निर्वहण हेतु बल्कि शाश्वत उन्नति के लिये भी एक पवित्र बन्धन समझा जाता था। ऋगवेद में विवाह के पवित्र विचार का वर्णन उपलब्ध है। महर्षि अत्रि एवं अग्नि संवाद के माध्यम से ऋगवेद में कहा गया है, "नये दाम्पत्य सूत्र में बँधे दम्पति पवित्र संस्कारों से थके होने के बावजूद पवित्र विचारों और त्याग से प्रभावित होकर सर्वशक्तिमान ईश्वर के लिये अग्नि में हवन करते हैं।"[19] विदुषी घोषा भी अच्छे पति के चरित्र के विषय में बताते हुए यह कहती है कि वे पति अच्छे होते हैं जो अपनी पत्नी में त्याग की भावना भर देते हैं।[20] पारावैदिक युग में प्रजातान्त्रिक शासन था। राजा प्रजा पर शासन करने के लिए जरुर थे परन्तु प्रजा का राजा के उपर पूर्ण नियन्त्रण था। इसका फल यह था कि राजा अपनी प्रजा के बीच लोकप्रिय थे। राजा एवं प्रजा के बीच का गहन एवं पवित्र सम्बन्ध ही तत्कालीन समाज की उन्नति का कारण था। प्राचीन भारत सामाजिक विधानों या धर्म शास्त्र से प्रभावित था। भारत में धर्म शास्त्र के प्रमुख जन्मदाता मनु ने समाज में व्यक्ति के जीवन को नियमित करने के लिए विभिन्न

नियमों की रचना की है। उन्होंने राजा के शासनतंत्र के लिए दैवी शक्ति के महत्व को स्वीकारा है। उनके अनुसार पुरुष और नारी दोनों को समाज के विकास और भलाई हेतु राजा की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। इस तरह वे राज्य की उत्पत्ति मानव कल्याण की भावना का परिणाम मानते हैं। मनु मानव स्वभाव को मूलतः नैतिक नहीं मानते और इसीलिये उन्होंने समाज के क्रमबद्ध कार्यक्रम हेतु दण्ड का सुझाव दिया है। उन्होंने सभी वर्णो को समान अधिकार तो नहीं दिया लेकिन पुरूष और नारी को एक ही गाड़ी के दो पहियों के रूप में देखा है जिन के सहयोग से गाड़ी सम्यक रूप से चलती है। मनु स्मृति राजनैतिक, धार्मिक, बौद्धिक एवं सामाजिक नियमों और आर्थिक सिद्धान्तों का एक अनूठा प्रलेख है।

रामायण एवं महाभारत जैसे धार्मिक ग्रन्थों में भी तत्कालीन सामाजिक दर्शनों की झलक मिलती है। विभिन्न सदस्यों के कर्त्तव्यों विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध, राजा एवं प्रजा के बीच के सम्बन्ध, शिक्षा प्रणाली, आर्थिक, औद्योगिक एवं विभिन्न सामाजिक संस्थाओं से सम्बन्धित विचार इन दो धार्मिक ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलते हैं।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन भारतीय दर्शन इस तथ्य का साक्षी है कि भारत में धर्म को समाज दर्शन का मेरु दण्ड माना गया है। प्राकृतिक मानवीय जीवन पर धर्म का वृहत् प्रभाव है। वस्तुतः धार्मिक भावना ही भारतीय जीवन के सामाजिक और राजनैतिक प्रणाली का आधार है। 'धर्म' शब्द का अर्थ एवं इसकी उत्पत्ति भी भारतीय जीवन के मूल आधार के रूप में धर्म की महत्ता सिद्ध करते हैं। धर्म ही वह आधार है जो भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को बाँधता है तथा मानव जीवन के पारस्परिक क्रमबद्धता को नियमित करता है।

भारत में समाज दर्शन की सामान्य गतिविधियाँ व्यक्ति और समाज के सफल विकास पर निर्भर हैं। स्वभाव एवं शक्ति के अनुसार यह मनुष्यों को विकास के लिये मार्ग दर्शन देता है तथा समाज के शक्तिशाली विकास पर भी बल देता है। फिर भी यह व्यक्ति और समाज में से किसी एक के विकास के पक्ष में नहीं है, बल्कि दोनों के सुव्यवस्थित विकास हेतु सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। मनुष्य को स्वयं अपना विकास करना चाहिये ताकि उसका विकास समाज के विकास का प्रथम सोपान बन सकें। यहीं पर भारतीय दर्शन परिवार, विवाह, विद्यालय, राज्य इत्यादि सामाजिक संस्थाओं की कार्य पद्धतियों का वर्णन करता है तथा माता-पिता एवं बच्चा, पति एवं पत्नी, शिक्षक एवं विद्यार्थी तथा राजा और प्रजा के पारस्परिक

कर्तव्यों का ज्ञान देता है। इनके कर्तव्य एक दूसरे के पूरक हैं। वे मनुष्य और समाज के सर्वांगीण विकास पर बल देते हैं। स्वभावतः समाज दर्शन मे निहित सामाजिक एवं दार्शनिक विचार भारतीय परिवेश में सर्वांग समाज दर्शन की स्थापना में सफल योगदान देता है।

विज्ञान एवं तकनीकी के विकास के साथ तथा मानव जीवन में विभिन्न सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप समाज दर्शन, और मुख्यत: भारतीय समाज दर्शन में नया मोड़ आया है। यद्यपि समकालीन भारतीय दर्शन पर पाश्चात्य दर्शन का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है फिर भी यह अपने अतीत को त्यागने में सर्वथा असमर्थ है। साम्यवाद, समाजवाद तथा पश्चिम के अन्य सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों ने अदृश्य रूप में पिछले एवं वर्तमान शताब्दियों के भारतीय समाज दर्शन को प्रभावित किया है। भारतीय चिन्तकों ने ऐसे विचार प्रभाव को अपने विचारों में समेकित कर लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रभावों के बावजूद भारतीय समाज दर्शन की आत्मा अक्षुण्ण है। राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गाँधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, तिलक, राधाकृष्णन तथा अन्य समकालीन चिन्तकों ने अपने-अपने प्रौढ़ विचारों से इसके असीम भांडार को पुष्ट किया है। अत: अनेक परिवर्तनों के बाद भी भारतीय समाज दर्शन की मौलिकता सर्वथा कायम ही है।

एम० एन० राय के उग्र सुधारवादी मानवतावाद का समाज दर्शन मार्क्स-वादी समाज दर्शन का उदाहरण है। बहुत अर्थों में ये मार्क्सवादी समाज दर्शन को विकसित करते हुए प्रतित होते हैं। मनुष्य की चेतना का निर्धारण भौतिक एवं सामाजिक वातावरण जिसमें वह रहता है, के आधार पर ही होता है। मार्क्स की इस विचारधारा से पूर्णतः सहमत हैं। किन्तु रुढ़िवादी साम्यवाद की मार्क्सवादी व्याख्या से वह अपनी सहमति नहीं प्रकट करते। यही कारण है कि वे साम्यवाद की परिसीमा को पार करते हुये मानवतावाद का समर्थन करते है।[21] द लीग ऑफ रेडिकल कांग्रेसमैन तथा द रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के गठन राय के उग्र सुधारवादी विचार के उदाहरण हैं। ऐसे संगठनों के औचित्य को इन्होंने दार्शनिक, संगठनात्मक, रचनात्मक तथा द्वितीय विश्व युद्ध में निहित समस्याओं के आधार पर सिद्ध किया है तथा माना है कि वैज्ञानिक राजनीति क्रान्तिकारी सिद्धान्तों पर आधारित क्रान्तिकारी क्रियाशीलता की देन है। इस सम्बन्ध में इन्होंने संसदीय प्रजातंत्र जैसी संस्था तथा रुढ़िवादी मार्क्सवाद की भी अपूर्णताओं पर प्रकाश डाला है।

रुढ़िवादी मार्क्सवाद की अपूर्णताओं पर प्रकाश डालते हुये इन्होंने यह बतलाया है कि साम्यवाद की सैद्धान्तिक व्यवस्था में भी वैयक्तिक स्वतंत्रता की अस्वीकारोक्ति है।[22] इस प्रकार राय ने रुढ़िवादी मार्क्सवाद का खंडन किया है जो साम्यवाद की देन है। किन्तु शुद्ध मार्क्सवाद से इनका कोई विभेद नहीं है। सत्य तो यह है कि राय का उग्र सुधारवादी विचार मार्क्सवाद को नये धरातल पर उपस्थित करता है तथा यह दावा करता है कि मार्क्सवाद को रूढ़िवादिता की ओर अद्य:पतन से बचाना ही उग्रसुधारवाद का उदेश्य है।[23] राय की यह मान्यता है कि वास्तविक मार्क्सवाद भविष्य दर्शन के बोधक हैं। यह मानव विचार की एक मात्र व्यवस्था है जो रुढ़िवादिता के खतरे का विरोध करता है तथा जिसका सम्यक विकास मानव समाज के सम्यक विकास के साथ जुड़ा हुआ है।[24]

राय बीसवीं शताब्दी के समाज दर्शन का पर्यवेक्षण करते हैं तथा मानते हैं कि आज मनुष्य संकटों के बीच से गुजर रहा है। ऐसे संकट को राय वैयक्तिक स्वतंत्रता का संकट कहते हैं। इनके अनुसार व्यक्ति को पूर्णत: मिटा दिया **गया है**। वह सभी वस्तुओं का मापदण्ड नहीं रह गया है। एक सामूहिक इगो जिसे हम राष्ट्र कहते हैं अथवा वर्ग कहते हैं आज मनुष्य के स्थान पर प्रभुसम्पन्न हो गया है। इससे ऐसा लगता है कि आज का व्यक्ति सामूहिक इगो पर बलिदान हो गया है।[25] अत: आवश्यकता है नयी संरचना की, नये दृष्टिकोण की या नये दर्शन की। राय का यह विश्वास है कि यह नया दर्शन नव मानवतावाद, समग्र मानवतावाद, वैज्ञानिक मानवतावाद अथवा उग्रसुधारवाद हैं। ऐसे समाज दर्शन को राय पूर्व के समाज दर्शनों से पूर्णत: भिन्न मानते हैं तथा बतलाते हैं कि ऐसे समाज दर्शन में ही व्यक्ति एवं समाज से सम्बन्धित समस्याओं का सत्यान्वेषण[26] सम्भव है। ऐसे समाज दर्शन में जिस समाज की परिकल्पना राय ने की है उसे उन्मुक्त व्यक्तियों के भाईचारे पर आधारित स्वतंत्र समाज की संज्ञा दी जा सकती है। इसका उत्स वैयक्तिक स्वतंत्रता है जिसके फलस्वरूप सृजनात्मक शक्ति का निर्माण होता है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा ही सामाजिक कुरीतियों की सासाप्ति संभव है। अत: राय समाज एवं व्यक्ति से सम्बन्धित कतिपय समस्याओं की समीक्षा करते हैं तथा इनके आधार पर वे नये समाज दर्शन की पुनर्स्थापना पर जोर देते हैं।

ऐसे ही सामाजिक समस्याओं में वे राजनीति की चर्चा करते हैं। तथा सामाज में राजनीति के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। आज के समाज में राजनैतिक शक्ति के दुरूपयोग ने अलोकप्रिय बना डाला है। सामान्य रूप से कोई भी व्यक्ति

राजनीति के प्रति संतुष्ट नहीं है तथा उनके मन में राजनीति के प्रति घृणा एवं असहानुभूति का भाव है। इस दृष्टि से राजनीति को दुर्जनों का घर तथा राजनीतिज्ञों को खतरनाक मनुष्यों के रूप में देखा जाने लगा है। इस प्रकार की अश्रद्धा, घृणा तथा राजनीति एवं राजनीतिज्ञों के प्रति अश्रद्धा के भाव की अभिव्यक्ति मात्र ही आज के समाज की अव्यवस्था के बोधक नहीं है बल्कि इनके फलस्वरूप सामाजिक मन के उपर अशुभ प्रभाव भी पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में लोग न केवल क्रियाशील सामाजिक अभिकर्ताओं में ही विश्वास खो चुके हैं वरन उनकी आस्था अपने आप पर भी समाप्त हो चुकी है। ऐसे निराशा के वातावरण में भाग्यवाद को प्रश्रय मिल रहा है अधिकतर लोग देश की राजनैतिक परिवर्तनों के प्रति निष्क्रय दृष्टिकोण रखने लगे हैं तथा तटस्थता का भाव उनके भीतर पनपने लगा है। भारत की ऐसी निराशाजनक स्थिति को देखते हुये राय बहुत अधिक दुःखी होने की सलाह नहीं देते। इनके अनुसार जिस प्रकार विज्ञान के गलत प्रयोग के कारण स्वयं विज्ञान का क्रान्तिकारी रूप समाप्त हो जाता है तथा ऐसी स्थिति के लिये स्वयं वैज्ञानिक ही दोषी ठहराये जाते हैं, इसी प्रकार राजनीति के साथ भी यही सत्य है। निराशा की प्रवृति का विकास विवेक के उपर अविवेक के विजय के बोधक है। यह मनुष्य के प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। अतः राय नये राजनैतिक दर्शन के सृजन की बात करते हैं जो वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वाधिक प्रश्रय दे सकता है। यही आज के समय का तकाजा भी है। ऐसी राजनीति का मुख्य आधार नैतिकता को मानना होगा तथा जब सामाहिक जीवन में नैतिकता केन्द्रीय स्थान ले लेगी तो निश्चित रूप से राजनीति में शुद्धता आयेगी तथा ऐसी शुद्धता से सामाजिक जीवन पवित्र होगा जिससे नये समाज दर्शन की रचना होती। अतः समाज दर्शन में आचार शास्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुये राय लिखते भी हैं, "समाजदर्शन में आचारशास्त्र को सर्वोच्च स्थान दिया जाना चाहिये, राजनैतिक विचारों में भी, यदि ईमानदारी एवं भव्यता की आवश्यकता की पूर्ति लोक जीवन में संतोषप्रद ढंग से करना है।"[27] इस दृष्टि से ही राय नये समाज दर्शन के सृजन की बात करते हैं।

सामाजिक जीवन में राजनीति के महत्त्व को ये सर्वोच्च स्थान देते हैं तथा मानते हैं कि राजनैतिक समस्याओं के समाधान के साथ अन्य छोटे-छोटे कुरीतियाँ स्वयं समाप्त हो जाती हैं। अतः राजनीति को शक्ति को हथियाने के लिये प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये बल्कि इनका प्रयोग अधिक से अधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये आवश्यक वातावरण तैयार करने के लिये किया जाना चाहिये। इसी दृष्टि से वे मानवतावादी दर्शन में राजनैतिक पहलू के महत्व को स्वीकारते हैं

तथा मानते हैं कि यदि राजनैतिक समस्या का समाधान हो जाय तो अन्य समस्यायें स्वयं सुलझ जायें।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राय वैयक्तिक स्वतंत्रता को अपने विचार में सर्वाधिक महत्व देते हैं इसलिये यह कहा जा सकता है कि उग्र सुधारवादी दर्शन में व्यक्तिवाद का बहुत अधिक महत्व है। इनके अनुसार वैयक्तिक शुभ सामाजिक प्रगति का सूचक है। उग्र सुधारवादी प्रजातंत्र की मूल मान्यता ही इस तथ्य से शुरू होती है कि व्यक्ति का विकास ही सामाजिक प्रगति का मापदण्ड है तथा इसका अन्त प्रोटागोरस की उक्ति मनुष्य ही सभी वस्तुओं का माप दण्ड है अथवा मार्क्स की उक्ति मनुष्य ही मानवता का मूल है, से होती है। इस प्रकार उग्र सुधारवाद जगत की पुनर्रचना का प्रतिपादन करता है तथा मानता है कि यह स्वतंत्र मनुष्यों के भाईचारे का सगठन है। इसे वस्तुतः वैसे नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त जनों का सामूहिक प्रयास माना जा सकता है। इस दृष्टि से व्यक्तिवाद समग्र मानवता का सर्वस्व है।

व्यक्ति के महत्व को स्वीकारने के बाद राय यह बतलाते हैं कि आज के समाज में व्यक्ति बन्धन से युक्त है तथा आवश्यकता है उन्हें मुक्त करने की। ऐसे बन्धनों में वे आध्यात्मिक तथा सामाजिक बन्धनों को रखते हैं। आध्यात्मिक गुलामी का आधार अन्धविश्वास है जहाँ लोग आलौकिक सत्ताओं में विश्वास करते हैं तथा ऐसी अनुभवातीत सत्ता पर अपने को आश्रित मानते हैं। ऐसे लोगों के लिये आलौकिक सत्ता जगत का संचालन करती है फलस्वरूप वे प्रार्थना एवं बलिदान के द्वारा उन्हें संतुष्ट रखना चाहते हैं। इससे उनकी आन्तरिक जिज्ञासा मर जाती है तथा मनुष्य की प्रभूसत्ता शून्यता में बदल जाती है। आज का विज्ञान मनुष्यों के मन से ऐसे अन्धविश्वास को दूर करना चाहता है। ऐसे ही विज्ञान से मनुष्यों को आध्यात्मिक बंधन से मुक्ति मिल सकती है। इसी अर्थ में राय आध्यात्मिक दासता को सबसे निकृष्ट कोटि की दासता मानते हैं।[28] अतः आवश्यकता है ऐसी दासता को मनुष्यों के मन से मुक्त करने की ताकि प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सके। इस प्रकार मनुष्य की वैयक्तिकता के पुनर्वास के लिये आध्यात्मिक दासता से मुक्ति की आवश्यकता है।

सामाजिक दासता को दो रूपों में समझा जा सकता है—समाज द्वारा अधीनीकरण तथा राज्य के हाथों का साधन बनना।

इन दोनों रूपों में व्यक्ति के महत्त्व को अस्वीकारा जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि इनके सम्बन्ध में व्यक्ति की स्थिति का विवेचन किया जाय।

इस दृष्टि से सर्वप्रथम समाज के स्वरूप तथा उत्पत्ति पर विचार करना अपेक्षित है।

राय के अनुसार समाज के स्वरूप एवं उत्पत्ति को लेकर दो प्रकार के विचार प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार समाज पहले से निर्मित है तथा व्यक्ति उसके अंग होने के कारण अपने को उससे अभियोजित करते हैं। ऐसे विचार का आधार समाज की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त है जहाँ व्यक्ति को गौण तथा समाज को प्रमुख स्थान दिया गया है। दूसरे विचार के अनुसार समाज ईश्वर की सृष्टि नहीं है बल्कि मानव द्वारा निर्मित है। इसलिये यहाँ व्यक्ति को प्राथमिक कारक के रूप में स्वीकारा गया है। राय के जनुसार दोनों में से दूसरा विचार तार्किक दृष्टि से सुसंगत है तथा अनुभव की दृष्टि से प्रदर्शनात्मक। अतः राय ऐसे ही विचार का समर्थन करते हैं।

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि समाज की रचना ही क्यों हुई है? ऐसे प्रश्न के उत्तर में राय यह मानते है कि स्वतंत्रता के आवेश के कारण ही इनकी रचना हुई है। मानव अस्तित्व की एक अवस्था में लोगों ने सह जीवन के महत्त्व की अनुभूति की। ऐसी अनुभूति अस्तित्व के संघर्ष के क्रम में हुई। इससे ऐसा लगता है कि राय सामाजिक संविदा के विचार को अस्वीकार करते हैं तथा सामाजिक उद्विकास के विचार को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार समाज की रचना समय के क्रम में विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप हुई है जो कालक्रम में अधिक प्रयोजन-पूर्ण एवं जटिल रूपों में हमारे सामने आया है। इस प्रकार राय के अनुसार समाज स्वतंत्रता के लिये चेतन संघर्ष का फल है। जैसा कि वे लिखते भी हैं, "समाज की उत्पत्ति अस्तित्व के लिये संघर्ष अत्यधिक क्षमता के साथ करने के लिये मानव अस्तित्व को प्रयोजनपूर्ण बनाने के लिये हुये है।"[29] अतः यह स्वीकारना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि समाज का निर्माण साधन के रूप में मानव स्वतंत्रता के अनुभूति के लिये हुआ है।

राय यह मानते हैं कि कोई सिद्धान्त जो समाज को व्यक्ति के उपर महत्व देता है, दोषपूर्ण है। क्योंकि यह मनुष्य को मशीन का एक अंश मान लेता है तथा व्यक्तित्व एवं मानव व्यक्ति के स्वतंत्रता के प्रति अन्याय करता है। राय इस सम्बन्ध में बड़े ही शक्तिशाली शब्दों में यह घोषित करते हैं कि यदि व्यक्ति समाज का वास्तविक प्रतिपक्ष है, यदि समाज की प्रगति बिना व्यक्ति के बलिदान के संभव नहीं है, यदि व्यक्ति के अस्तित्व का सामंजस्य समाज के परिप्रेक्ष्य में संभव नहीं है तो यह कहा

जा सकता है कि मानव इतिहास पूर्णतः असफल रहा है तथा इस जगत का कोई भविष्य नहीं है। ऐसी स्थिति मशीन के वैसे चित्र का बोधक है जो आत्म विध्वंसक कार्य में सदा लगा हुआ है। अतः राय समाज की अपेक्षा व्यक्ति के महत्व को स्वीकारते हैं।

व्यक्ति को प्राथमिक महत्व दिये जाने का दूसरा भी कारण है। इस भौतिक संसार में विवेक को मनुष्य का जन्मजात स्वभाव अवश्य माना जाना चाहिये। अपने आचार शास्त्रीय विचारों में राय ने यह स्वीकार भी किया है कि मनुष्य की नैतिकता का आधार उसकी जन्मजात विवेकशीलता है तथा अन्तःकरण विवेक की प्रतिध्वनि है। सामाजिक उत्तरदायित्व की मूल प्रवृत्यात्मक चेतना में इसे निहित देखा जाता हैं। अतः कोई सिद्धान्त जो व्यक्ति को प्राथमिक महत्व नहीं देता, व्यक्ति के द्वारा प्राप्त किये गये आत्म अभियोजन की शक्ति को अस्वीकार करता है। राय के अनुसार समाज दर्शन का वही सिद्धान्त संतोषप्रद है जो मनुष्य में विवेक-सम्मत निर्णय देने की क्षमता में विश्वास करता है। राय लिखते भी हैं, "स्वतंत्रता से मेल खाने वाले व्यक्ति एवं समाज का सामंजस्यपूर्ण विचार की संभावना तभी हो सकती है जब हम प्राक्कल्पना से प्रारम्भ करते हैं, प्रत्येक व्यक्ति विवेकशील निर्णय देने में सक्षम है तथा सामाजिक क्रम का प्रयोजन प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता विकसित करने की अनुमति जैसे जैविक ज्ञान पर आधारित होते हैं।"[30]

राय के अनुसार जिस उत्स के कारण मनुष्यों के द्वारा समाज का निर्माण किया गया है वही साधन राज्य के संगठन में भी महत्व रखते हैं। समाज की तरह ही राज्य भी वैयक्तिक स्वतंत्रता की अनुभूति के साधन हैं। इस अर्थ में ये मार्क्स-वादियों की आलोचना करते हैं क्योंकि इनके अनुसार वे राज्य को दबाव का एक अंग मानते हैं। स्वभावतः उनका यह विश्वास भी गलत है कि राज्य धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा। राय के अनुसार राज्य की रचना व्यक्ति की सुविधा के लिये हुई हैं। अतः इसके विनाश के प्रयास से मानवता के विकास की प्रक्रिया न रह जायेगी बल्कि ह्रास की प्रक्रिया रह जायेगी। अतः वे लिखते हैं, "राज्य समाज का राजनैतिक संगठन है। जिस प्रकार आदिम समुदायों का उद्भव बड़े एवं जटिल रूप में हुआ है तथा लोक जीवन के विभिन्न पहलूओं को साथ-साथ संगठित होना होता है, उसी प्रकार राज्य भी इस उदेश्य की पूर्ति के लिये रचित हुये हैं। राज्य का कार्य समाज का लोकशासन है। इसलिये प्रजातांत्रिक राज्य समाज के साथ सह-आरम्भ बिन्दू होगा।[31] इससे यह स्पष्ट है कि राय व्यक्ति के भलाई के लिये राज्य के महत्व को स्वीकारते हैं तथा मानते हैं कि ऐसे राज्य मनुष्य की ही सृष्टि हैं।

काल क्रम से राज्य एक अमूर्त धारणा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है तथा आज इसके विकास की प्रक्रिया विपरीत हो गई है। अपने सृष्टिकर्ता अर्थात् व्यक्ति को ही यह समाप्त कर रहा है तथा प्रगति के राह में यह बाधक सिद्ध हो रहा है। अत: ऐसे राज्य में व्यक्ति का भविष्य असुरक्षित हो गया है। इसी विषाद में राय लिखते हैं, "क्या यह बुद्धि सम्मत है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये मनुष्य ने जिस साधन की रचना की है उसी साधन द्वारा वह अपनी स्वतंत्रता से वंचित हो रहा है।"[32] इस प्रश्न से राय के मन में होने वाले विस्मय का स्पष्ट भान होता हैं तथा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे वैयक्तिक स्वतंत्रता के कितने बड़े हिमायती हैं। उपर्युक्त प्रश्न का यही उत्तर इनके समग्र मानवतावादी समाज समाजदर्शन का केन्द्र स्थल है। अत: इनका विवेचन अनिवार्य है।

समग्र मानवतावादी समाज दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्राथमिक स्थान है। समाज एवं व्यक्ति के बीच तथा राज्य एवं व्यक्ति के बीच का वास्तविक सम्बन्ध व्यक्ति एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा पर ही निर्भर है राय यह मानते हैं कि मनुष्य से ही प्रारम्भ हुआ है। मनुष्य ही समाज का मूल अंग है। इसी प्रकार नागरिक राज्य की मौलिक इकाई हैं। समाज एवं राज्य की मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता के लिये साधन के रूप में सृष्टि की है। उसे दोनों की अपेक्षा प्राथमिक स्थान मिलना चाहिये। इसलिये एक आदर्श समाज वह है जहाँ वह अपने सदस्यों को पूर्ण अवसर प्रदान करता है तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सफल योगदान देता है। राज्य के साथ भी यही तथ्य लागू है। राय ऐसी स्थिति को व्यक्ति का आदर्श स्थल मानते हैं।

नव मानवतावाद के समाज दर्शन की सबसे बड़ी देन उनके राजनैतिक कार्य की धारणा है। यद्यपि यह प्रभावकारी राजनीति में असीम आस्था रखता है फिर भी इनकी राजनीति की धारणा मूल रूप से अन्य सिद्धान्तों से भिन्न है। यदि हमें मानवतावादी राजनीति के स्वरुप को सरल तरीके से स्पष्ट करना है तो यह कहा जा सकता है कि यह राजनीति बिना पार्टी एवं बिना प्रभुत्व की राजनीति है। मानव इतिहास में पहली बार ऐसे राजनैतिक दल की रचना हुई जिसने आस्था के रूप में शक्ति का परित्याग किया है तथा अपने को समाप्त कर लिया है। अत: राय के अनुसार मानवतावादी राजनीति राजनतिक प्रभुत्व से जुझने के निषेध की राजनीति है। यह परित्याग पर आधारित नहीं है बल्कि इसका तरीका एवं राजनैतिक हिकमत नया है। ऐसी पार्टी उग्र सुधारवादी प्रजातान्त्रिक पार्टी है जो अपने को समाप्त कर अपना रूप उग्र सुधारबादी मानवतावाद जैसी विचारधारा में

बदल गई है। राय के अनुसार उग्र सुधारवादी मानवतावादी राजनीति का लक्ष्य वास्तविक प्रजातंत्र के लिये परिस्थितियों का निर्माण करना है। राय के अनुसार प्रजातंत्र के जितने रूप आज के विश्व में देखने को मिलते हैं उनमें कहीं भी लोक-शासन का तकाजा देखने को नहीं मिलते। यहाँ तक कि संसदीय प्रजतंत्र में भी लोकशासन की बात नहीं देखी जाती बल्कि लोगों द्वारा प्रतिनिधियों का शासन देखा जाता है। यही बात सर्वसत्तात्मकवाद के साथ भी है। अतः प्रश्न उठ खड़ा होता है कि कैसे व्यक्ति एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता का महत्व होगा ? कैसे व्यक्ति की प्रभुसत्ता कायम रह सकेगी ? इस प्रश्न के उत्तर में राय स्वीकारते हैं कि मानवतावादी परम्पराओं एवं नैतिक उग्र सुधारवादी विचारों के आधार पर संघर्ष किये जाने के फलस्वरूप ही ऐसे संकट से मुक्ति मिल सकती है। ऐसे आदर्श प्रजातंत्र की स्थापना को उग्रसुधारवादी प्रजातंत्र की संज्ञा दी गई है तथा इनके आदर्शों की चर्चा की गई है।

उग्र सुधारवादी प्रजातंत्र का आदर्श समग्र रूप से आध्यात्मिक दृष्टि से उन्मुक्त पुरूषो को प्रश्रय देना है। ऐसे ही पुरूषों द्वारा राजनैतिक दल की रचना होने से स्वतंत्रता के नये आयाम की रचना संभव है। पार्टी के ऐसे सदस्य, निदेशक, मित्र तथा दार्शनिक के रूप में लोगों के बीच कार्य कर सकेंगे न कि शासक के रूप में। ऐसे राजनैतिक कार्य का आधार बौद्धिक एवं नैतिक होगा। ऐसे दल का विकास लोकइच्छा स्वातन्त्रय के साथ होगा। इसी से उग्र सुधारवादी प्रजातान्त्रिक राज्य की भी स्थापना होगी। प्रभुत्व के जमाव एवं स्वतंत्रता के बीच असंगति की अनुभूति करते हुये ऐसे दल कभी भी शक्ति को हड़पने में समर्थ नहीं होंगे। यह वस्तुतः लोक समिति का रूप होगा तथा प्रजातान्त्रिक शक्ति का साधन होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज से सहअस्तित्व रखते हुये राज्य दबाव का साधन नहीं होगा। ऐसी ही स्थिति में लोक की सरकार लोक के द्वारा संभव हो सकेगी।

राय के उपर्युक्त विचार से ऐसा लगता है कि वे आदर्श राज्य, आदर्श समाज तथा आदर्श शासन की बात करते हैं। यह स्वभाविक ही है कि ऐसी आदर्श स्थिति की उत्पत्ति मात्र शुभ कामनाओं से नहीं हो सकती। ऐसे समाज एवं राज्य के स्थापना के लिये अत्यन्त ही सुशिक्षित नागरिकों की आवश्यकता है जो पूर्ण निष्ठा के साथ ऐसी स्थिति के निर्माण में अपना योगदान दे सकें। राय भी यह मानते हैं कि प्रजातंत्र की असफलता का कारण सामान्यजन के बीच शिक्षा का अभाव है, ऐसे सामान्यजन के बीच जिन्हें प्रजातंत्र का वास्तविक रक्षक होना चाहिये था। आज के प्रत्येक राजनैतिक दल शिक्षा के इस कारक की अवहेलना करते हैं क्योंकि उनके लिये

अशिक्षित मतदाता को भुलावे में डालना आसान है। अतः आवश्यकता है आज राजनैतिक ईमानदारी की जो आज के प्रजातंत्र के लिये महत्वपूर्ण कारक है। इसी-लिये राय यह मानते हैं कि किसी भी पार्टी का लक्ष्य शक्ति की प्राप्ति नहीं होनी चाहिये बल्कि सामान्य जन को शिक्षित करने का लक्ष्य होना चाहिये। इसी दृष्टि से इन्होंने अपने दल को शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक विचारधारा में परिवर्तित कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि राय के अनुसार लोक शिक्षा ही सफल प्रजातंत्र की प्रथम शर्त है।

राय शिक्षा का अर्थ पुस्तकों के ज्ञान से नहीं लेते। इनका अर्थ वे मनुष्यों में विवेकी तत्व के प्रश्रय से लेते हैं जिनका अर्थ है व्यक्तियों द्वारा अपनी जन्मजात संभावना तथा उत्तरदायित्व के प्रति सजग होना। अतः शिक्षा का अंतिम लक्ष्य मनुष्यों के बीच वैसी आदत को डालना है जिसके माध्यम से वह अपने सम्बन्ध में सोच सके। ऐसी शिक्षा की चरम परिणति आत्म शिक्षा में है। जैसा कि वे लिखते भी हैं, "प्रजातंत्र की प्रारम्भिक शर्त के रूप में शिक्षा का तात्पर्य केवल प्राथमिक शिक्षा से नहीं है, इसका अर्थ औपचारिक, उच्च तथा वैज्ञानिक शिक्षा से भी है। यह एक ऐसी प्रक्रिया का बोधक है जो व्यक्ति के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर के उत्थान में सहायता करती है।"[33] यदि इसकी संभावना हो तो प्रजातंत्र निश्चित रूप से वास्तविक हो सकेगा। यही वास्तविक प्रजातंत्र का आधार है मानवतावादी आचारशास्त्र में निहित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राय का समाज दर्शन मानव जीवन की मौलिक मान्यताओं पर आधारित है जिसका सार वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं शिक्षा में निहित है। ऐसे समाज दर्शन को निश्चित रूप से आदर्श समाज दर्शन की संज्ञा दी जा सकती है।

संदर्भ-सूची

1. थॉमस मैकफरसन, सोसल फिलॉसफी
2. सी० डी० ब्रॉड, साइन्टिफिक थॉट, पृ०-20
3. विलफ्रायड सेलर्स-साइन्स, परसेप्सन एण्ड रियलिटी, पृ०-2
4. जॉन हरमन रैन्डल, हाऊ फिलासॉफी यूजेज इट्स पास्ट, पृ०-19.
5. जे० एस० मैकेन्जी, आउट लाइन्स ऑफ सोसल फिलासॉफी, पृ०-13

6. राधाकमल मुखर्जी—दी सोसल स्ट्रक्चर ऑफ भैल्यूज पृ०-27-28
7. जे० एस० मैकेन्जी, आउट लाइन्स ऑफ सोसल फिलासॉफी।
8. थींग्स आर इन द सैड्ल एन्ड राइड मैनकाइन्ड।
9. जे० एस० मैकेन्जी, आउट लाइन्स ऑफ सोसल फिलासॉफी, पृ०-14
10. गिभसन विन्टर, एलीमेन्ट्स फॉर ए सोसल इथिक्स पृ०-265.
11. वही, पृ०-264.
12. थॉमस मैकफरसन, सोसल फिलॉसफी, पृ०-11.
13. वही, पृ०-11.
14. वही, पृ०-12.
15. चकलदार के 'सम आसपेक्ट्स ऑफ सोसल लाइफ इन एनसियेन्ट कल्चरल हेरीटेज ऑफ इन्डिया, खण्ड-2, में प्रकाशित निबन्ध, पृ०-557.
16. अथर्ववेद-VI. 117.3
17. मनुस्मृति-IV, पृ०-257-258.
18. द फिलासॉफी आफ उपनिषदस, गेडेन द्वारा अनुदित पृ०-387
19. ऋग्वेद—V-43.15
20. वही, X-40.10.
21. विष्णुदेव नारायण ओझा, एम० एन० राय एन्ड हिज फिलासॉफिकल आइडियाज, पृ०-185
22. वही, पृ०-218
23. एम० एन० राय, न्यू० ओरियेन्टेशन, आमुख-4.
24. वही, पृ०-114.
25. एम० एन० राय, पॉलिटिक्स, पावर एन्ड पार्टीज, पृ०-20
26. एम० एन० राय, न्यू ओरियेन्टेसन, पृ०-16
27. एम० एन० राय, रिज्न रोमान्टिसिज्म एन्ड रिवोल्यूसन खंड-2, पृ०-295.
28. एम० एन० राय, पॉलिटिक्स पावर एन्ड पार्टीज, पृ०-133
29. वही, पृ०-35.

30. वही, पृ०-38.
31. वही, पृ०-61.
32. एम० एन० राय, एन्ड पी० स्प्रैट, वियोन्ड कम्यूनिज्म टू ह्यूमनिज्म, पृ०-140.
33. एम० एन० राय, पॉलिटिक्स, पावर एन्ड पार्टीज, पृ०-118.

उपसंहार

एम० एन० राय के विचार भारतीय पुनर्जागरण मार्क्सवाद एवं रूस की अक्टूबर क्रान्ति के प्रभावों की पृष्ठभूमि में विकसित हुए हैं। भारत में पुनर्जागरण को आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सुधारवादी प्रवृतियों की देन स्वीकारा गया है। ऐसी ही प्रबल चेतना के उद्घोषकों के उदाहरणस्वरूप राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंश, ऐनी बेसेन्ट, एम० जी० रानाडे, बी० जी० तिलक, बी० सी० पाल, श्री अरविन्द तथा अन्य भारतीय विवेचकों को स्वीकारा जा सकता है। इन्होंने राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना के उत्थान में अपना सफल योगदान दिया है। राजा राम मोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना प्राचीन संस्कृति एवं परम्परा के आधार पर धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से की। आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म के एकेश्वरवादी विचार की स्थापना के क्रम में मूर्ति-पूजा, जाति-प्रथा तथा पशु-बलि जैसी कुरीतियों का घोर विरोध किया। थियोसॉफिकल सोसायटी के संस्थापक एनी बेसेन्ट ने हिन्दू आदर्शों के पुनरूत्थान में तथा राम कृष्ण परमहंस एवं राम कृष्ण मिशन के संस्थापक स्वामी विवेकानन्द ने सभी धर्मों के बीच निहित मौलिक एकत्त्व की स्थापना में अभूतपूर्व योगदान दिया है। तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना में निर्माण में द डेकन सोसायटी, द सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी तथा सोसल सर्भिस लीग जैसे और भी कई महत्वपूर्ण संस्थाओं की अहम भूमिका रही है।

सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा मानवतावादी भावनाओं को प्रोन्नत करने वाले इन चिंतकों के अतिरिक्त तत्कालीन राजनैतिक विचारधाराओं का भी पुनर्जागरण में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय राष्ट्रीय चेतना को देने तथा उन्हें सशक्त आधारभूमि प्रदान करने में 1857 ई० में हुए सिपाही विद्रोह तथा 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भी स्थापना का भी कम महत्व नहीं है। इसी के बाद भारतीय जन-जीवन स्वतंत्रता संग्राम की ओर उन्मुख हुआ। बंकिम चन्द्र चटर्जी, एस० एन० बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, पंडित मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, दादा भाई नौरोजी, बाल गंगाधर तिलक, बिपिन चन्द्र पाल जैसे

चिन्तकों को राष्ट्रीय चिन्तन धारा को नया मोड़ देने का श्रेय प्राप्त है। इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल एवं कुछ उग्र पंथी विचारों का भी जन्म राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तन में योगदान देते हुए प्रतीत होते हैं। महात्मा गांधी जैसे चिन्तक विनम्र विचार के प्रवर्तक मान जाते हैं जबकि लोकमान्य तिलक एवं पुलिन बिहारी दास जैसे विचारक अतिवाद के समर्थक हैं। एम० एन० राय के जीवन एवं विचारों को प्रभावित करने वाली ऐसी ही सुधारवादी धाराएँ थीं जिनका लक्ष्य सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक उत्थान है। राय के विचारों में इनका महत्वपूर्ण भाव देखने को मिलते हैं। एम० एन० राय के विचार भारतीय राष्ट्रीय पुनर्जागरण की देन है।

अपने आरम्भिक जीवन में वे भारतीय आध्यात्मवाद से बड़े प्रभावित थे किन्तु विदेशों में निर्वासित जीवन व्यतीत करने के क्रम में वे मार्क्सवादी विचारों के गहरे प्रभाव में आये। इन्होंने देखा कि मार्क्सवाद का केन्द्र स्थल मानवोद्धार है, मानव स्वतन्त्रता को प्रश्रय देना है तथा सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को परिवर्तित कर देने का सफल प्रयास है। अतः राय ने अपने बाद के विचारों को मार्क्स के विचारों पर आधारित किया। इनका यह विचार कि भारतीय चिन्तन धारा सामाजिक चेतना एवं आर्थिक दशा के ही अनिवार्य परिणाम हैं, वस्तुत: मार्क्सवाद के प्रभाव का ही परिचायक है। इनके द्वारा आध्यात्मवाद की कटु आलोचना किया जाना तथा भारतीय नेताओं द्वारा आध्यात्मिक आदर्शों को काल्पनिक दृष्टि पर आधारित किये जाने का विरोध करना भौतिक शक्तियों को विकसित करना तथा जीवन संघर्ष में सफलता की संभावना का मार्ग प्रशस्त करना है। राय के ऐसे विचार मार्क्सवादी मान्यताओं पर ही आधारित हैं। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद से प्रभावित होकर राय ने आध्यात्मवाद का खंडन करते हुए बतलाया है कि ऐसी धार्मिक भावना का महत्व भूतकाल के लिए ही है। पाश्चात्य जगत में इनकी समाप्ति पूँजीवाद के विकास के साथ हो चुका है, किन्तु मध्य युग का यह विचार भारत में आज भी जीवित है। इससे यह स्पष्ट है कि राय के विचारों पर मार्क्सवाद की गहरी छाप है।

अपने चिंतन के अन्तिम चरण में राय ने मार्क्सवाद के खोखलेपन को समझने का सफल प्रयास किया है तथा बतलाया है कि आर्थिक बाध्यता, वर्ग-संघर्ष, बचत-मूल्य जैसे विचारों के मार्क्सवादी विवेचन में भी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ हैं। यही बात मार्क्स के अन्य विचारों में भी है। अतः अपने उग्र सुधारवादी मानवतावाद में इन्होंने मार्क्सवाद को अवनति के मार्ग से बचाने का मार्ग ढूँढा है।

राय पर रुसी क्रान्ति का भी गहरा प्रभाव है। 1917 ई० के अक्टूबर में रूस में हुई क्रांति के फलस्वरूप साम्यवाद का आधिपत्य रूस पर स्थापित हो गया था जिसके फलस्वरूप पुरानी सामाजिक व्यवस्था को समाप्त कर वैसे नये सामाजिक भविष्य की परिकल्पना की गई थी जिसका आधार शान्ति, समानता एवं न्याय माना गया था। रूसी क्रांति के प्रभाव से भारतीय राष्ट्रीय विचारधारा भी वंचित नहीं रह सका था। महात्मा गाँधी ने जन आन्दोलन द्वारा, असहयोग द्वारा, असैनिक अवज्ञा द्वारा सर्वप्रथम विदेशी शासन से स्वतंत्रता की प्राप्ति का उद्देश्य भारतीय जन समूह के समक्ष रखा था। इसे वस्तुतः अक्टुबर क्रान्ति का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है। रुसी क्रान्ति से प्रभावित होकर ही राय ने यह माना कि राजनैतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता एव सामाजिक मुक्ति की प्रथम शर्तों में से है। इसी संदर्भ में राय ने स्पष्टतः कहा है कि मार्क्सवाद ही राष्ट्रीय जागरण को चरम परिणति पर पहुँचाने का एक मात्र रास्ता है तथा बिना आर्थिक स्वतंत्रता के भारत कभी भी वास्तविक राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता। अत: मार्क्सवाद एवं अक्टुबर क्रान्ति का प्रभाव राय के जीवन दर्शन पर स्पष्ट देखने को मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राय के विचार अवरुद्ध तालाब में निहित जल की तरह नही है, बल्कि इनकी चिन्तन धारा निर्मल, स्वच्छ चिन्तन धारा है जो सतत प्रवहशील दिखाई देती है। यही कारण है कि अपने जीवन के अन्तिम चरण में इनकी आस्था मार्क्सवाद में भी नहीं रह सकी है तथा इन्होंने मार्क्सवाद की त्रुटियों को भी ढूँढ निकाला है। सत्य तो यह है कि राय, चाहे वह भारतीय विचारधारा हो या पाश्चात्य, उन्हें बिना समीक्षा किये स्वीकारना नहीं चाहते। एक सच्चे मार्क्सवादी की तरह वे जीवन एवं जगत की व्याख्या ही करना नहीं चाहते, बल्कि उनमें परिवर्तन लाना भी चाहते हैं। ऐसा उग्र विचार उनके ज्ञानमीमांसीय, उनके तत्वमीमांसीय, उनके आचारशास्त्रीय एवं उनके समाज शास्त्रीय विचारों में सर्वत्र देखने को मिलते हैं।

ज्ञान मीमांसा दर्शन की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध ज्ञान के स्वरूप एवं विषय, इनके आधार एवं मान्यताओं तथा ज्ञान के दावों के सामान्य विश्वसनीयता से है। ऐसे विचार से ही पाश्चात्य विचारकों ने ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान के साधन, ज्ञान की स्थिति, ज्ञान की सत्यता एवं असत्यता तथा ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले अभिकथनों की चर्चा कर ज्ञान के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण एवं विवेचन किया है। भारतीय ज्ञानमीमांसा में भी ज्ञान सम्बन्धी समस्त

समस्यायें प्रमा तथा प्रमाण जैसे दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों के इर्द-गिर्द सजे हुए देखे जा सकते हैं। प्रमा का अर्थ यथार्थ ज्ञान है तथा प्रमाण का अर्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के साधन से है। प्रमा की व्याख्या में प्रमाण का सबसे अधिक महत्त्व है। यही प्रमा का रूप निर्धारित करता है। पाश्चात्य दर्शन में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण माना गया है किन्तु भारतीय ज्ञानमीमांसकों का दृष्टिकोण इस संदर्भ में अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म है। यहाँ एक से लेकर छः तक प्रमाणों जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि की स्वीकारोक्ति है। इन समस्त साधनों का एक ही उदेश्य है और वह है विभिन्न भारतीय दार्शनिक पद्धतियों को एक दृष्टि प्रदान करना तथा उस दृष्टि को तार्किक आधार देना।

कोई भी सफल दार्शनिक पद्धति ज्ञानमीमांसीय आधार के बिना संभव नहीं है, क्योंकि दृश्य-जगत की स्थिति का विवेचन तथा दृश्य जगत का ज्ञान प्राप्त करने वाला अभिकरण दोनों का सम्बन्ध ज्ञानमीमांसा से ही है। एम० एन० राय के विचार भी इसके अपवाद नहीं है। इन्होंने अपने समस्त दार्शनिक विचारों, सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तनधाराओं तथा अपनी समस्त सैद्धांतिक मान्यताओं को ठोस ज्ञानमीमांसीय आधार पर आधारित किया है।

राय की ज्ञानमीमांसा के दो पक्ष हैं—निषेधात्मक एवं भावात्मक। प्रथम पक्ष में उन्होंने गलत ज्ञानमीमांसीय धाराओं की समीक्षा की है तथा उन्हें खंडित किया है। भावात्मक पक्ष के क्रम में उन्होंने अपने विचारों का ज्ञानमीमांसीय आधार ढूँढा है। सामान्यतया ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों के रूप में विश्व दर्शन में ज्ञान सापेक्षतावाद (सबजेक्टी भिज्म) तथा विषयनिष्ठ-वाद (आबजेक्टी भिज्म) के बीच भेद किया जाता रहा है। प्रथम अर्थात् ज्ञानसापेक्षतावाद के प्रभावी होने के कारण ज्ञान की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है तथा किसी वस्तु विशेष के सम्बन्ध में एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के ज्ञान से भिन्न माना जाता है। ऐसे विचार का समर्थन आधुनिक दर्शन में जार्ज बर्कले तथा बेनेडेट्टो क्रोचे के दर्शन में देखने को मिलते हैं। क्रोचे ने स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि सत्ता की सृष्टि मन द्वारा होती है तथा बर्कले ने इसे अपनी प्रसिद्ध उक्ति "ऐसे इस्ट परसीपी" के द्वारा स्पष्ट किया है। राय इन विचारों की आलोचना करते हैं तथा यह मानते हैं कि ऐसे ज्ञानमीमांसीय विचार से भौतिक जगत की वस्तुनिष्ठता की आधार शिला तो कमजोर होती ही है, साथ ही मानव ज्ञान के क्षेत्र में अस्तव्यस्तता आ जाती है। राय के अनुसार वाह्य जगत की सत्ता को अस्वीकार करना कठिन है।

राय का अखंड विश्वास आधुनिक बुद्धिवाद, वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा भौतिकवाद में है। ये भौतिक जगत के वस्तुनिष्ठ अस्तित्व में अखंड आस्था रखते हैं। अतः इनकी ज्ञानमीमांसा की सर्वप्रमुख समस्या वैसे ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत की स्थापना करना है जिनके फलस्वरूप भौतिक जगत की वस्तुनिष्ठता को सशक्त आधार मिल सकें। ऐसे ज्ञानमीमांसा की स्थापना तब तक संभव नहीं हो सकती जब तक चिन्तन को ज्ञान सापेक्षतावाद से मुक्ति न मिले। यही कारण है कि राय ज्ञानसापेक्षतावाद जैसे विचार को अपनी ज्ञानमीमांसा में अस्वीकार करते हैं।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में राय के विचार अनुभव के उत्कर्ष पर आधारित हैं। किन्तु ऐसे अनुभववादी विचार को वे लॉक की अनुभववादी परम्परा से भिन्न मानते हैं। ब्रिटिश अनुभववाद की जिस परम्परा की शुरुआत जॉन लॉक के विचारों में देखने को मिलते हैं उन्हें हम बर्कले के आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद से गुजरते हुए देखकर डेविड ह्यूम के संशयवाद में परिणत होते हुए देखते हैं। इस प्रकार लॉक के अनुभव-वादी मान्यताओं की चरम परिणति ह्यूम के संशयवाद में होती है। यह अन्तिम रूप से ज्ञान सापेक्षतावाद एवं अज्ञेयवाद में परिणत हो जाता है। फलस्वरूप ज्ञान की वस्तुनिष्ठता की ही समाप्ति हो जाती है। अतः राय ऐसे विचार को अस्वीकार करते हैं। किन्तु वे लॉक के इस विचार से सहमति प्रकट करते हैं कि प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र साधन है। राय लॉक के अनुभववादी, विचार की समीक्षा करते हैं तथा अपने अनुभववाद में इनके दोषों से बचने का संकल्प करते हैं। प्रत्यक्ष की महत्ता को स्वीकार करते हुए वे लॉक के इस विचार से अपनी सहमति प्रकट करते हैं कि इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान संदिग्ध भी हो सकता है।

राय के ज्ञानमीमांसीय विचारों के दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष में ये निश्चित रूप से वस्तुवादी तथा भौतिकवादी ज्ञानमीमांसीय विचार का समर्थन करते हैं। ऐसे स्थिति में वे भौतिक जगत की विषयनिष्ठता पर जोर देते हैं। अतः राय की ज्ञानमीमांसा ज्ञान की अनुभववादी आधार पर प्रतिष्ठित प्रतीत होती है। किन्तु ऐसे अनुभववाद को संस्थापित आधुनिक ब्रिटिश अनुभववाद से भिन्न माना जा सकता है। राय के अनुसार ब्रिटिश अनुभववाद का अन्त संशयवाद में होता है जहाँ अन्य मान्यताओं के अतिरिक्त कारणिक नियम जैसी महत्त्वपूर्ण मान्यता का भी खंडन देखने को मिलता है। यही कारण है कि राय अनुभववादी मान्यताओं को वस्तुवादी एवं भौतिकवादी विचारों के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करते हुये अपने विचार को आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों का समर्थक मानते हैं। इस दृष्टि से वे अपने ज्ञान-मीमांसीय विचारों को वैज्ञानिक अनुभववाद की संज्ञा देते हैं।

अपने ज्ञानमीमांसीय विचार के दूसरे पक्ष में वे विचारों को सृजनात्मक भूमिका निर्वहण करने का गुण प्रदान करते हैं। यहीं वे अपने भौतिकवादी मान्यताओं को भी शंकाशील दृष्टि से देखते है। अतः यह निणय करना कठिन हो जाता है कि इन्हें प्रत्ययवादी विचारक कहा जाय या भौतिकवादी। राय स्वयं अपने को यहाँ कठिन परिस्थिति में पाते हैं तथा विचारों की भूमिका तथा दर्शन को इसकी देनों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि जब ऐसे दृष्टिकोण पूर्णतः विकसित हो जायेंगे तो इनका रूपान्तरण नये दर्शन में हो सकेगा, न तो भौतिकवाद और न प्रत्ययवाद, आज की स्थिति में रहने पर, सामान्यतया इसे समझ सकेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि राय अपनी इस स्थिति से सजग हैं कि इनके विचार को कोई प्रत्ययवाद तथा कोई भौतिकवाद की संज्ञा दे सकता है। किन्तु वे यह मानते हैं कि इनसे उपर उठ कर हमें सत्य का अन्वेषण करना चाहिये तथा सत्यान्वेषण की संवेदनशीलता को सदा बढ़ावा देना चाहिये। यही वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों का भी मूल उदेश्य होना चाहिये। इस दृष्टि से राय की ज्ञानमीमांसा अत्यन्त ही व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक है। अतः इनकी ज्ञानमीमांसा को वैज्ञानिक फलवाद (साइन्टिफिक प्रैगमैटिज्म) कहना श्रेयस्कर है।

चूँकि राय अपने ज्ञानमीमांसीय विचारों में प्रत्ययवाद तथा भौतिक वाद के विरोध से उपर उठकर सत्यान्वेषण, क्रियाशीलता एवं विचारशक्ति का मार्ग प्रशस्त करना चाहते हैं तथा मानते हैं कि ऐसी शक्ति कभी भी तथा कहीं भी अन्वेषित हो सकती है इसलिए इनके यह अनुभववादी विचार सत्यान्वेषण के विचार के रूप में फलित होकर दर्शन एवं विज्ञान दोनों के साधन एवं साध्य की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं। राय यह मानते हैं कि दर्शन एवं विज्ञान का कार्य मानवता के विकास में योगदान देना है। अतः ज्ञानमीमांसा इनके अनुसार ऐसे विकास के साधन मात्र हैं। राय की ज्ञानमीमांसा इस प्रकार नवमानवतावादी या वैज्ञानिक मानवतावादी विचार को प्रतिबिम्बित करते हैं। ऐसी ज्ञानमीमांसा का सारतत्व प्रभुत्वसम्पन्न मानव की प्रगति में निहित है। राय का यह विश्वास है कि कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जिसका अर्जन मनुष्य नहीं कर सकता है। मनुष्य अपने भाग्य का विद्यायक स्वयं है। अतः राय की ज्ञानमीमांसा न तो भौतिकवादी है और न प्रत्ययवादी ही, बल्कि मूलतः मानवतावादी है जिसे राय उग्र सुधारवादी मानवतावाद का अनिवार्य स्तम्भ मानते हैं। मौलिक परिवर्तन, मानव व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा जीवन का वास्तविक ज्ञान ही इनकी आधारभूत मान्यताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। राय के विचारों का सशक्त तत्वमीमांसीय आधार भी है। सामान्यतया तत्वमीमांसा वैसे विचार का

प्रतिनिधित्व करते हैं जहाँ जीवन एवं जगत को उनकी समग्रता में समझने का प्रयास किया जाता है। अस्तित्व एवं सत्ता का विवेचन तत्वमीमांसा के केन्द्रस्थल हैं। ऐसे विचारों के अन्तर्गत तत्वविज्ञान, विश्व विज्ञान तथा ईश्वर विज्ञान जैसी विधाओं का विवेचन सन्निहित होते हैं। तत्वविज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों में विश्व की उत्पत्ति में निहित आधारभूत तत्व के विवेचन सम्बन्धी प्रश्न हैं। ऐसे प्रश्नों के उत्तर के क्रम में जहाँ एक और भौतिकवाद, आध्यात्मवाद, द्वैतवाद तथा तटस्थवाद जैसे सिद्धान्तों की चर्चा उपलब्ध है वहाँ दूसरी ओर एकत्ववाद, द्वैतवाद तथा अनेकत्ववाद जैसे सिद्धान्तों का विवेचन भी विश्वदर्शन में प्राप्त है।

एम० एन० राय के तत्वमीमांसीय विचार भौतिकवाद के समीक्षात्मक विवेचन का प्रतिफलित रूप है। भौतिकवाद के विकास का इतिहास बड़ा ही ज्वलन्त एवं पुरातन रहा है। प्राचीन ग्रीक दर्शन में थेल्स, एनेक्जी मेन्डर, एनेक्जीमेनिश जैसे विचारकों को भौतिकवादी विचार का प्रतिनिधि माना गया है। हेराक्लीटस, एम्पीडोकल्स तथा डेमोक्राइटस के विचारों में ग्रीक भौतिकवाद की सर्वाधिक विकसित रूप में देखा जा सकता है। आधुनिक भौतिकवादी विचारकों में लामेत्री, हेकल, बुकनर तथा काल मार्क्स का नाम प्रमुख है। इनके विचारों में परमाणुवाद तथा विकासवाद के सिद्धान्तों को आधार स्वरूप स्वीकारा जा सकता है। इनकी यह मान्यता है कि विकास के क्रम में जड़ जिनका अन्तिम रूप परमाणुओं का है, से चेतन की उत्पत्ति हुई है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक विकासवाद के द्वारा जड़ से चेतन की उत्पत्ति की व्याख्या की है। इनके अनुसार जड़ द्रव्य के विकास के क्रम में किसी एक स्तर पर परिमाण का गुण में परिवर्तन हो जाता है जिसके चलते जड़ द्रव्य से नये गुण अर्थात जीव अथवा चेतना की उत्पत्ति हो जाती है। मार्क्स इसे गुणात्मक परिवर्तन का नियम कहते हैं।

भारतीय विचारधारा में भौतिकवाद की धारणा वेदों, उपनिषदों, चार्वाक, सांख्य तथा वैशषिक जैसे दर्शनों में उपलब्ध हैं। आज के भौतिकवादी विचारक वेदों तथा उपनिषदों की व्याख्या भी भौतिकवादी धरातल पर करते है। इनके अनुसार वेदों में बतलाये गये बहुईश्वरवादी धारणा में ईश्वर को वस्तुतः सशक्तप्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकारा जा सकता है। चार्वाक दर्शन में यह माना गया है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के भौतिक तत्वों से जड़ और चेतन, समस्त जगत की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार सांख्य तथा वैशेषिक दर्शनों में भी भौतिकवाद की स्पष्ट झलक मिलती है। सांख्य की तत्वमीमांसा बुद्धिवादी प्रकृतिवाद है क्योंकि चेतन पुरूष तथा अचेतन प्रकृति ऐसे दर्शन की आधारभूत मान्यतायें हैं।

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में विवेचित अणुवाद भौतिकवाद के ही उदाहरण हैं।

आध्यात्मवाद भौतिकवाद का विरोधी विचार है जहाँ मूल सत्ता को चेतन स्वरूप या आध्यात्म स्वरूप माना गया है। ऐसे विचार के समर्थकों में पाश्चात्य विचारक बर्कले, प्लेटो, हेगेल, ग्रीन, तथा ब्रैडले का नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय विचारधारा में ऐसे विचार के समर्थक शंकर तथा रामानुज हैं।

एम० एन० राय का विचार भौतिकवादी मान्यताओं पर आधारित है। इनके अनुसार भारतीय चिन्तन की विफलता का कारण विगत अप्रतिष्ठित अध्यात्म-वाद का गुणगान तथा अतीत की महिमा पर अवलम्बित होना है। यही कारण है कि इन्होंने प्राचीन भारतीय चिन्तन में निहित स्वभाववादी एवं भौतिकवादी सूत्रों का चयन कर यह दिखलाया है कि भारतीय जीवन की सफलता इन्हीं भौतिकवादी सूत्रों की तार्किक परिणति में निहित है।

राय के भौतिकवादी विचार परम्परागत आध्यात्मवादी विचार की समीक्षा तथा पाश्चात्य जगत में व्याप्त वैज्ञानिक विचार के गहन अध्ययन का फल है। ये भारतीय सामाजिक जीवन का अवमूल्यन, राजनैतिक दासता, आर्थिक पिछड़ापन, बौद्धिक जड़ता एवं सांस्कृतिक पतन का कारण भारतीय आध्यात्मवाद को ही मानते हैं तथा बतलाते हैं कि भारतीय जीवन की ग्रन्थियों के सड़न के लिये आध्यात्मवाद ही उत्तरदायी है। अतः आज आवश्यकता है इन सड़ी हुई ग्रन्थियों को आपरेसन द्वारा निकाल कर भारतीय जीवन में नये प्राण फूके जायें। इनका दृढ़ विश्वास है कि यह तभी सम्भव है जब समस्त दर्शन को भौतिकवादी धरातल पर उतारा जाय। इससे यह स्पष्ट है कि राय भौतिकवाद के प्रबल पक्षधर है।

राय के अनुसार भौतिकवाद एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त ही नहीं बल्कि जगत के विभिन्न दर्शनों का मूल आधार है। एक सफल भौतिकवादी एवं निष्ठावान मार्क्स-वादी होने के नाते ये यह मानते हैं कि दर्शन का कार्य विशुद्ध चिन्तन या निष्क्रिय मनन नहीं है। बल्कि दर्शन का वास्तविक कार्य जगत एवं जगत की वस्तुओं के उद्भव एवं विकास का समीक्षात्मक विवेचन कर भौतिकवादी दर्शन के माध्यम से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करना है। इसके द्वारा मनुष्य जगत के स्वरूप को परिवर्तित कर मानव जीवन को सुखी तथा जीने योग्य बना सकता है। अतः राय यह मानते हैं कि भौतिकवाद मात्र एक क्रान्तिकारी विचार धारा ही नहीं है, अपितु प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत में व्याप्त सबसे पुरातन विचार पद्धति भी है।

राय के अनुसार आध्यात्मिक दर्शन मानव जीवन की सच्ची व्याख्या नहीं करता। ऐसे विचार को सत्यान्वेषण न मानकर स्वप्निल विचार की संज्ञा दी जा सकती है। यह ज्ञान का सही मार्ग न होकर विपर्यय का मार्ग है। यह हमें हेत्वाश्रित निरपेक्ष सत्ता तथा अनुभूत जगत के आधार स्वरूप अननुभूत सत्ता की ओर ले जाता है तथा इसके सहारे मानव जीवन को पूर्णतः मृगमरीचिका की ओर अग्रसर करता है। इनकी दशा वैसी ही रहती है जिस प्रकार अशुभ आत्मा द्वारा प्रभावित भूखा जानवर इधर उधर दौड़ लगाता रहता है किन्तु इर्द-गिर्द फैले हुये हरे खेतों को नहीं चरता। यही कारण है कि मानव जीवन की समृद्धि के लिये ये भौतिकवादी विचार की प्रतिस्थापना करते हैं। राय के अनुसार वास्तविक दर्शन भाववादी जिज्ञासा से प्रारम्भ होते हैं, वैसी जिज्ञासा से जो प्राकृतिक उपादानों के कारणों को जानने के क्रम में उत्पन्न होती है। ऐसी जिज्ञासा की उत्पत्ति वर्ग सम्मत समाज में सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसे समाज में आर्थिक अभिरूचियों के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है। ऐसे संघर्ष पुरोहिती वर्ग एवं अपुरोहिती वर्गों के बीच देखा जाता है जहाँ पुरोहितों के सुखदाई स्थान को चुनौती दी जाती है और यहीं से भौतिकवादी दर्शन का प्रारम्भ होता है। अतः राय के अनुसार भौतिकवाद का विकास पूर्णतः स्वाभाविक एवं सामान्य रूप में देखा जा सकता है। इसमें आस्था के कारण मनुष्य में आत्मविश्वास का जन्म होता है जिससे वह अस्तित्व की रक्षा के लिये किये जाने वाले संघर्ष में पूर्णशक्ति का अनुभव करता है। इससे मनुष्य स्वतंत्रता की चेतना एवं जीवन संग्राम में अजेय शक्ति का अनुभव करता है।

राय के अनुसार भारतीय चिन्तन में भी भौतिकवाद का विकास स्वाभाविक रूप में देखने को मिलता है। वेदों में व्याप्त प्राकृतिक धर्म की व्याख्या एवं अनुपालन से असंतुष्ट होकर बाद में मनुष्य वस्तुओं की स्वाभाविक उत्पत्ति की खोज करते हुए दीखते हैं। भारतीय दर्शन के क्रमिक विकास इस तथ्य के साक्षी हैं। विभिन्न उपनिषदों से अनेकानेक उद्धरण उपस्थित कर राय ने यह दिखलाया है कि वेदों एवं उपनिषदों में भौतिकवाद एवं अनीश्वरवाद का अंकुर वर्तमान है। इनके अनुसार वैशेषिक का अणुवाद, सांख्य का प्रकृति विचार एवं विकासवाद, बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद तथा चार्वाक के भौतिकवाद जगत की वस्तुओं की स्वभाविक एवं भौतिक-वादी व्याख्या के स्पष्ट उदाहरण हैं।

राय ने अपने भौतिकवादी विचारों में आत्मा, पुनर्जन्म, रहस्यमय अनुभूति आदि आध्यात्मिक तथ्यों का खंडन किया है। चार्वाक को छोड़ कर प्रायः सभी दार्शनिक पद्धतियों में आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म पर किसी न किसी रूप में

आस्था प्रकट की गई है। राय ने ऐसे विचार का खंडन किया है तथा बताया है कि ऐसे विचार का कोई औचित्य नहीं है। कभी-कभी आत्मा के पुनर्जन्म में अनुभविक आधार पर आस्था प्रकट की जाती है तथा उदाहरण के लिए वैसे बच्चे को रखा जाता है जो अपने भूतकाल के जीवन को याद कर पाते हैं। यहाँ ऐसे विचार का आधार यह है कि स्मृति मृत्यु के बाद भी अक्क्षुण रहती है। राय यह मानते हैं कि ऐसे विचार आत्म विरोधी हैं क्योंकि स्मृति एक जैविक कार्य तथा शारीरिक उपकरण का अंग है। ऐसी स्थिति में यदि मृत्यु के उपरान्त मस्तिष्क ही विनष्ट हो जाता है तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि स्मृति अक्क्षुण रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा के पुनर्जन्म की बात ठोस आधार पर आधारित नहीं है। इसी प्रकार रहस्यमयी अनुभूति के महत्त्व को भी राय अस्वीकार करते हैं यद्यपि रहस्यमयी अनुभूति के महत्त्व को पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों ने भी स्वीकारा है। राय ऐसे विचार को मनोरोग ग्रसित मानते हैं। इनके अनुसार रहस्यमय धार्मिक अनुभूति पूर्व निर्धारित धारणा की उपज होती है तथा यह स्वतः सम्मोहन जैसी रहस्यानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार राय अपने तत्वमीमांसीय विचारों में अध्यात्मवाद का खंडन करते हैं तथा भौतिकवाद को एकमात्र तत्वमीमांसीय सिद्धांत के रूप में स्वीकारते हैं।

राय के द्वारा समर्थित विश्व की भौतिकवादी व्याख्या से भी इनके भौतिकवादी विचारों को प्रश्रय मिलना है। सामान्यतया ईश्वर को इस विश्व का सृष्टिकर्त्ता एवं नियन्ता माना जाता है। राय इस विचार को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार इस विश्व के नियन्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह जगत आत्मनियन्त्रित एवं आत्मपूर्ण जगत है। फलतः नियन्ता के रूप में किसी वाह्य शक्ति की अपेक्षा इसे नहीं हैं। इस जगत में निवास करने वाले मनुष्य मूलतः बुद्धिसम्मत हैं। अतः इस जगत की व्याख्या के लिए किसी भी अभौतिक शक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है। अपने इस विचार को राय भौतिकवाद के नाम से स्पष्ट करते हैं तथा इसे ही वे वैज्ञानिक मानवतावाद की भी संज्ञा देते हैं क्योंकि इनके अनुसार ऐसे मानवतावाद विज्ञान की शाखाओं के निष्कर्षों से परिपूर्ण है। इस विचार को और अधिक स्पष्ट करने के क्रम में राय ने कहा है कि मानव समाज के उदय के साथ जितने भी दार्शनिक पद्धतियों की रचना हुई है तथा जिन्हें विचार के इतिहास में स्थान मिला है वे अनिवार्यतः भौतिकवादी हैं।

भौतिकवाद के सम्बन्ध में राय विकृत विचारों की भी चर्चा करते हैं, तथा मानते हैं कि जो लोग भौतिकवाद का अर्थ खाओ, पीओ, मौज करो बतलाते हैं,

वे अज्ञान के घेरे में हैं। ऐसे लोग इसे अशुभ एवं अभद्र वस्तुओं के साथ साहचर्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। राय इन विचारों को गलत बताते हुए कहते हैं कि भौतिकवाद की इतनी गलत व्याख्या की गई है, इसको इतने अभद्र रूप में प्रस्तुत किया गया है कि जिस क्षण कोई व्यक्ति अपने को भौतिकवादी कहता है उसे लोग बिना नैतिकता, बिना सिद्धांत के गला काटने वाले व्यक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित कर देते हैं। यही कारण है कि वे भौतिकवाद के बदले दूसरे शब्द का प्रयोग करना उचित समझते हैं। ऐसे भौतिकवाद को वे भौतिक वस्तुवाद तथा कभी-कभी एकतत्ववादी प्रकृतिवाद भी कहते हैं। राय अपने भौतिकवादी विचारों में उपर्युक्त भ्रांतियों से भौतिकवाद को दूर रखने की सलाह देते हैं। इनके अनुसार यह पूर्ण नैतिक तथा सम्यक सिद्धांत पर आधारित विचार है। यह बिना किसी अलौकिक सत्ता में विश्वास किये विश्व की एकवादी व्याख्या है।

चेतना की उत्पत्ति की व्याख्या की समस्या भौतिकवाद की प्रमुख समस्या है। राय के अनुसार जीवों की उत्पत्ति की व्याख्या सुनिश्चित रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर सैद्धान्तिक धरातल पर किया जा सकता है, किन्तु इसे प्रायोगिक रूप में उपस्थित करना अत्यन्त ही कठिन है। ईश्वर द्वारा जीवों की रचना, अकार्बनिक पदार्थों द्वारा जीवन का उद्भव, प्राणवादी एवं अप्राणवादी विचारों में निहित जीवों की उत्पत्ति की व्याख्याओं की समीक्षा कर राय यह बतलाते हैं कि ये विचार सम्यक नहीं है। इनके अनुसार जीवों का उद्भव भौतिक पदार्थों के विकास के क्रम में हुआ है।

विश्व के विभिन्न अस्तित्ववान पदार्थों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार की व्याख्यायें देखी जाती हैं। प्रथम को हम अलौकिक व्याख्या कहते हैं। सृष्टिवादी व्याख्या इसके उदाहरण हैं। दूसरे को वैज्ञानिक व्याख्या कहा जा सकता है जिस पर विकासवाद का सिद्धांत आधारित है। एक सच्चे भौतिकवादी की तरह राय प्रथम को अस्वीकार करते हैं तथा दूसरी में अपनी घोर आस्था व्यक्त करते हैं। लेमार्क, हैकेल, हक्सले, बर्गसाँ आदि विचारकों के विचारों की समीक्षा करते हुए ये यह बतलाते हैं कि जीवन जड़ तत्व का उत्तम एवं प्रोन्नत संगठन हैं। जीवन पूर्णतः भौतिक जगत के बोधक हैं। यह स्वतः उत्पत्ति का परिणाम है। अतः इनके अनुसार जीवन या चेतना रहस्यपूर्ण संवृति नहीं है, बल्कि उच्च स्तरीय जड़ तत्व के संगठन से अधिक और कुछ नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राय के अनुसार जीव सृष्टि के फल नहीं हैं, बल्कि ये जड़ तत्वों से विकसित हुए हैं। जीव की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न विचारों की व्याख्या करते हुए राय इसके सम्बन्ध में

उत्पन्न विभिन्न विवादों को समाप्त करने की चेष्टा करते हैं तथा स्वीकार करते हैं कि भौतिकवाद बिना किसी अलौकिक सत्ता के जीवन के रहस्य का विवेचन करता है अत: इनके अनुसार जीव की उत्पत्ति जड़ तत्व से ही हुई है। राय का भौतिकवाद वैज्ञानिक मानवतावाद का समर्थन करता है तथा जगत की व्याख्या भौतिकवादी वस्तुवाद के रूप में करता है। राय जड़ तत्व को ही चरम तत्व मानते हैं। अलौकिक सत्ता के रूप में चाहे वह ईश्वर हो या आत्मा, इनकी अस्वीकारोक्ति इनके विचारों में देखने को मिलते हैं। ऐसे भौतिकवाद से ही बुद्धिसम्मत नैतिकता का उद्भव सम्भव है तथा यह मनुष्य की सर्जनात्मक शक्ति का उद्घोषक है। अत: राय भौतिकवादी तत्वमीमांसा के पक्षधर हैं। इनकी भौतिकवादी तत्वमीमांसा अति वैज्ञानिक एवं मानवतावादी है जिसे उग्र सुधारवादी भौतिकवाद रेडिकल मेटेरियलिज्म की संज्ञा दी जा सकती है।

राय के विचार सुसंगत एवं समीचीन आचारशास्त्रीय विचारों पर आधारित हैं। आचारशास्त्र का इतिहास वस्तुत: मानव इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। पाश्चात्य जगत में इसके प्रतिनिधित्व सुकरात, प्लेटो, अरस्तु आदि करते हुए दीखते हैं। मध्य युग में इनका विकास सन्त अगस्ताइन, सन्त थॉमस इक्वेनस जैसे बिचारकों के विचार में देखने को मिलते हैं। आधुनिक आचारसास्त्रीय विचारकों में हॉब्स, स्पीनोजा, लॉक, ह्यूम, कान्ट आदि का नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई महत्त्वपूर्ण आचारशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रणयन देखने को मिलता है, जिनमें नॉननैचुरलिज्म, समकालीन नॉनकागनीटिभिज्म तथा अस्तित्ववादी आचारशास्त्र बहुचर्चित सिद्धांत हैं।

आचारशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत है। इसके अन्तर्गत नैतिक गुण, नैतिक निर्णय, नैतिकता के मापदण्ड, नैतिक पद्धति, कर्तव्य और नैतिक बद्धता, सद्गुण-असद्गुण, दण्ड और पुरस्कार तथा नैतिक भावना जैसे विषयों का विवेचन मुख्य रूप से आ जाते हैं। पाश्चात्य आचारशास्त्र में इनका विशद विवेचन उपलब्ध है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य आचारशास्त्र दर्शनशास्त्र पर आश्रित प्रतीत होते हैं किन्तु भारतीय आचारशास्त्र भारतीय दर्शन का अभिन्न अंग है। भारतीय आचारशास्त्र मानव आदर्श की केवल मीमांसा ही नहीं करता, बल्कि उसे सिद्ध करने का साधन भी बताता हैं। सत्य तो यह है कि भारतीय आचारशास्त्र मानवता का सबसे समृद्ध आचारशास्त्रीय विवेक का प्रतीक है। यहाँ नैतिक कर्तव्यों को निश्चित आध्यात्मिक एकत्व का सहायक माना गया है। ऐसे ही आध्यात्मिक अनुशासन के सहायक तथ्यों के रूप में वेदों तथा उपनिषदों में वर्णित नैतिक कर्तव्य

जैन दर्शन के त्रिरत्नों, बौद्ध दर्शन के अष्टांगिक मार्ग, सांख्य-योग्य दर्शन का चितवृति निरोध तथा वेदान्त दर्शन के साधन चतुष्टय अभिव्यक्त हुये हैं। भारतीय दर्शन में केवल चार्वाक भौतिकवादी नैतिकता का समर्थन करते हैं, जबकि अन्य सभी दर्शन आध्यात्मवादी नैतिकता के ही सफल समर्थक है।

एम० एन० राय के आचारशास्त्रीय विचार भी अन्य विचारों की तरह भारतीय एवं पाश्चात्य आचारशास्त्रीय विचारों से भिन्नता रखते हैं। अपने विचारों में ये मनुष्य की स्वतंत्रता के उत्कर्ष को महत्व देते हैं तथा मानवतावादी मान्यताओं को वैज्ञानिक ज्ञान तथा सामाजिक अनुभूति की पृष्ठ भूमि में समृद्ध तथा सशक्त करते हुये दीखते हैं। राय धर्म निरपेक्ष मानवतावादी आचारशास्त्र के समर्थक हैं। इनकी आस्था भौतिक जगत के क्रिया कलापों में है। भौतिक जगत के क्रिया कलापों में आस्था होने के कारण ही ये किसी भी प्रकार की आलौकिक सत्ता का हस्तक्षेप मानवीय क्रियाओं में न्याय संगत नहीं मानते। ऐसा मानने के कारण ही ये समग्र जगत की भौतिकवादी व्याख्या की पृष्ठभूमि में ही अपने आचारशास्त्रीय मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं। आचारशास्त्रीय विचारों में राय भौतिकवाद के पक्ष धर हैं। इनका यह विश्वास है कि न केवल भौतिकवादी आचारशास्त्र की संभावना है, बल्कि भौतिकवादी नैतिकता का सबसे उत्कृष्ट रूप है। ऐसी भौतिकवादी नैतिकता में मनुष्य अपने को बिना किसी काल्पनिक आलौकिक शक्तियों के समक्ष समर्पित किये उच्च नैतिक जीवन बिताने में समर्थ हो पाता है।

राय नैतिकता का वास्तविक आधार विवेक में निहित मानते हैं तथा विवेक सम्मत नैतिक मान्यताओं को सर्वोच्च नैतिक मान्यताओं के रूप में स्वीकारते हैं। सामान्यतया नैतिक व्यवहारों को दो रूपों में निर्देशित देखा जाता है। प्रथम के अनुसार नैतिक व्यवहार जन्म-जात होते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति स्वतः देखी जाती है। दूसरे में नैतिक आचरण को वाह्य अभिकरणों के आदेश द्वारा निर्देशित माना जाता हैं। प्रथम नैतिकता को विवेक पर आधारित करते हुये दीखते हैं, जबकि दूसरा वाह्य शक्ति द्वारा इसे नियंत्रित करते हुए प्रतीत होते हैं। मानवतावादी विचारक होने के कारण तथा भौतिक जगत की शक्ति में आस्था रखने के कारण राय नैतिक व्यवहारों का उद्गमस्थल विवेक को मानते हैं।

राय स्वतंत्रता के विचार को अपने आचारशास्त्रीय विचारों का एक महत्व-पूर्ण स्तम्भ मानते हैं। राय के अनुसार सभी मूल्यों को अन्तिम श्रोत स्वतंत्रता है जिसे सर्वोच्च मूल्य की संज्ञा दी जा सकती है। यह मानव अस्तित्व का सार तत्व है।

पाश्चात्य आचारशास्त्रीयों की तरह राय भी स्वतंत्रता एवं विवेक को नैतिकता की महत्वपूर्ण मान्यताओं के रूप में स्वीकार करते हैं तथा नैतिकता की व्याख्या के क्रम में किसी भी प्रकार के तात्विक आदेश, रहस्यात्मक आदेश अथवा नैसर्गिक आदेश की खोज को व्यर्थ मानते हैं। इस प्रकार इनके नैतिक विचारों का आधार सहज जैविक तथ्यों में निहित है तथा ये विकासवादी आयामों में आबद्ध हैं। इसी अर्थ में राय नैतिकता को विकासवादी नैतिकता की संज्ञा देते हैं तथा मानते हैं कि भौतिक जगत के आंगिक उद्विकास के फल होने के कारण ही मानव विवेकशील प्राणी है। इसी दृष्टि से वे मानव को अनिवार्यतः विवेकशील प्राणी भी स्वीकारते हैं।

इनके अनुसार मनुष्य बाधित एवं स्वतंत्र दोनों है। वह अपनी सीमाओं अथवा अपनी बाध्यताओं के प्रति सजग होता है तथा साथ-साथ इन बाध्यताओं से उपर उठने का प्रयास भी करता है। ऐसे प्रयास उसके स्वतंत्रता के बोधक हैं। यह सत्य है कि मनुष्य को इच्छा-स्वातंत्रय हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि उसके इच्छा-स्वातंत्रय नियमों द्वारा नियंत्रित जगत के विपरीत नहीं है। मनुष्य की विवेकशीलता ही उसकी इच्छा की स्कतंत्रता एवं नियमों द्वारा नियंत्रित जगत के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। अतः राय स्वतंत्रता एवं विवेकशीलता को मानव स्वभाव का आधार स्तम्भ मानते हैं।

पाश्चात्य आचारशास्त्र की सर्वप्रमुख मान्यता के रूप में इच्छा स्वतंत्रय को स्वीकारा गया है। राय इससे भी आगे बढ़ कर स्वतंत्रता को नैतिकता का अभिसूचक मानते हैं। इनके अनुसार मनुष्य के उद्विकास क्रम में अस्तित्व के लिये संघर्ष वस्तुतः स्वतंत्रता के लिये संघर्ष के बोधक हैं। इसी क्रम में मनुष्य के उद्विकास के साथ स्वतंत्रता के लिये संघर्ष पर बुद्धि का नियन्त्रण देखने को मिलता है। ऐसी ही स्थिति में चयन एवं निर्णय जैसे तत्वों का भी उद्भव देखा जा सकता है। राय के अनुसार नैतिकता की पूर्व मान्यता इच्छा की स्वतंत्रता है तथा चयन एवं बुद्धि के अभाव में इच्छा की स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। नैतिकता का सम्बन्ध केवल मनुष्यों के साथ देखा जाता है। जैसे-जैसे स्वतंत्रता सशक्त होती जाती है, वैसे-वैसे सारी बाध्यताओं की समाप्ति में भी प्रगति देखी जाती है। इस प्रकार स्वतंत्रता का उदय ही मानवीय संभावनाओं एवं मानवीय शक्तियों के अभ्युदय की प्रगति का बोधक है।

राय के मानवतावाद का मुख्य उदेश्य मानव को मानवीय गुणों के प्रति सजग करना है ताकि वह विश्वास कर सके कि ईश्वरीय संकल्प अथवा अलौकिक सत्ता के द्वारा उसका भाग्य निर्धारित नहीं है, बल्कि उसमें स्वयं ऐसी शक्ति है

जिसकी अनुभूति कर वह अपने को सशक्त महसूस कर सकता है। इस दृष्टि से राय यह मानते हैं कि नैतिक आदेश भी स्वयं मनुष्य में अन्तर्निहत हैं। राय नैतिकता के मापदण्ड की समस्या को संतोषप्रद रूप में उपस्थित करने के क्रम में मानव अस्तित्व की गहराई में प्रवेश करने की बातें करते हैं। इनके अनुसार आज आवश्यकता है वास्तविक मनुष्य के पुनर्वास की, वैसे मनुष्य के सृजन की जो स्वयं अपने प्रति उत्तरदायी हो। मनुष्य की इसी धारणा को राय का आचारशास्त्र प्रतिविम्बित करता है। राय के अनुसार आज तक के आचारशास्त्री या तो स्वर्ग की ओर दृष्टि रखते दीखते हैं या मनुष्य में ईश्वरत्व की खोज करते हैं। वे इस बात को भूलते हुए दिखाई देते हैं कि मनुष्य विवेक एवं संकल्प का विलक्षण संगठन है। अत: स्वाभाविक रूप से प्रकृति में विकसित होने वाले मानव स्वभाव के महत्व को स्वीकारना तथा मानना कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों में अपने को विकसित करता है तथा उसके विकास में किसी भी वाह्य सत्ता का कोई हाथ नहीं है, वास्तविक नैतिक विचारों के निर्णायक तत्व हैं। ऐसे विचारों से उद्‌भूत या ऐसे विचारों पर आधारित आचारशास्त्र स्वाभाविक, सशक्त एवं सृजनशील आचारशास्त्र है। राय ऐसे ही आचारशास्त्र के संस्थापक हैं।

इनकी यह मान्यता है कि भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में सम्पंन्न होने वाली उद्‌विकास की प्रक्रिया ही नैतिकता की जननी है। इसका सम्वन्ध स्वयं कर्ता से है। अत: अन्तःकरण की अपील ही इसके महत्वपूर्ण पक्ष हैं। राय अन्तःकरण को स्पष्ट करते हुए उसे सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना मानते हैं। उनके अनुसार ऐसे उत्तरदायित्व एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता के बीच कोई विरोध नहीं होता। इसके विशेष अभिप्राय हैं और यह है समाज की उत्पत्ति में निहित अभिप्राय। इसे स्पष्ट करते हुए राय यह सिद्ध करते हैं कि सामाजिक उत्तरदायित्व का भाव वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी नहीं है। मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाज का निर्माण किया है। यह उनके सामूहिक प्रयास की देन है। समाज का प्रत्येक अंग स्वतंत्रता के आदर्श द्वारा प्रेरित होते हैं। अत: जब तक समाज का अंग या व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहता है तब तक वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के प्रति भी आस्थावान रहता है। यदि व्यक्ति इसके अनुरूप कार्य करता है तो इसका अर्थ है कि वह अन्त: करण के अनुरूप कार्य करता है। अपने अन्त: करण के अनुरूप दूसरी कोई शक्ति नहीं है जो उसे अपने कर्तव्य का बोध कराये। इसी अर्थ में अन्तःकरण सामाजिक उत्तरदायित्व के मूल प्रवृत्यात्मक चेतना के साथ तादात्म्य रखते हैं। ऐसे विचार से सामाजिक नैतिकता में

निहित क्रम एवं क्रम भंग के तथ्यों की भी व्याख्या हो पाती है।

जैसा कि देखा जा चुका है कि राय एक प्रबल मार्क्सवादी की तरह यह मानते हैं कि मनुष्य अपने समस्त नैतिक एवं बौद्धिक जीवन की प्रेरणा सामाजिक वातावरण से ग्रहण करता है। अत भौतिकवाद ही नैतिकता को वास्तविक आधार प्रदान करता है। यह सारे अन्धविश्वासों को नष्ट करता है तथा मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता मान कर उसे मुक्त जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करता है। इतना ही नहीं, जब मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि वह अपने भाग्य का विधायक स्वयं है, तब वह अपने को तत्वमीमांसीय विचार की कड़ी से विलग कर लेता है तथा मताग्रही नैतिकता के निरंकुश बोझ को अपने ऊपर से उतार फेंकता है। इस प्रकार राय अपने आचारशास्त्रीय विचारों में भी वैज्ञानिक भौतिकवादी आधार को स्वीकारते हुए अपने आचारशास्त्र को उग्र सुधारवादी बना देने में सक्षम हो पाते हैं। अत: राय का आचारशास्त्र न केवल भौतिकवादी आचारशास्त्र है, बल्कि इसे उग्र सुधारवादी आचारशास्त्र कहना अधिक संगत एवं श्रेयस्कर है।

राय के समाजशास्त्रीय विचारों का आधार भी प्रगतिशील एवं उग्र सुधारवादी समाजशास्त्र है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज की मान्यतायें, समाज की समस्यायें तथा समाज से सम्बन्धित अन्य विचारों का अध्ययन किया जाता है। दर्शन एवं समाज शास्त्र में अत्यन्त ही घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि दर्शन को जीवन एवं जगत की समस्याओं की समग्रता में अध्ययन करने का विचार माना जाय तो समाजशास्त्र भी इसके क्षेत्र से अलग नहीं रह पाता है। किन्तु दर्शन का कार्य वस्तुत: विश्व के अन्तर्गत आने वाले सभी विचारों का यदि संश्लेषनात्मक रूप प्रस्तुत करना है तो समाजशास्त्र निश्चित रूप से समाज से सम्बन्धित विचारों का विवेचन करता है। समाजशास्त्र को सामान्यत: समाज का विज्ञान माना जाता है। गिन्सवर्ग तथा गिडिन्ग्स ने इसे जहाँ समाज का विज्ञान माना है, वहाँ मेकाइवर तथा मैक्सवेवर ने इसे सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन स्वीकारा है। ऐसे विचारों में कोई तात्विक भेद नहीं है क्योंकि ये सामाजिक जीवन तथा सामाजिक अध्ययन से सम्बन्धित हैं। समाज शास्त्र मानव समुदायों का उद्भव, उनके विभिन्न रूपों, नियमों, रीति-रिवाजों, संस्थाओं, विश्वासों, चिन्तन भावना एवं क्रिया-कलापों की विधियों का अध्ययन करता है।

समाजशास्त्र समाज में रहनेवाले मनुष्य की विशिष्ट अभिलाषाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। यहाँ जीवन की समस्त रूपरेखा का प्रस्तुतीकरण मूल्यों के निर्धारण के क्रम में देखा जाता है तथा उस मूल्यपद्धति का निर्धारण गुढ़ अर्थ

एवं व्यापक महत्व के आधार पर किया जाता है। अधिकतर समाज शास्त्री इसे स्वीकार करने में नहीं हिचकते कि दर्शन का महत्व उनके अध्ययन में भी सहायक है। किन्तु दर्शनशास्त्र के प्रतिपादकों को यह शायद ज्ञात नहीं होता कि समाज शास्त्र का अध्ययन-भी उनके लिए महत्वपूर्ण है। सत्य तो यह है कि आज का समाज विज्ञान दार्शनिकों को चिन्तन करने के लिए तथा उनपर कार्य करने के लिए अत्याधिक सामग्रियाँ प्रस्तुत करते हैं। यदि दार्शनिक इन सामग्रियों का उपयोग नहीं करते तो इसमें दोष समाज वैज्ञानिकों का नहीं है बल्कि दार्शनिकों का है। समाजशास्त्र का मूल उदेश्य समाज में रहनेवाले व्यक्तियों को समझने का सफल प्रयास है। सामाजिक चेतना, तथा सामाजिक उद्‌विकास को समझने के लिए वैसी विधियों का अन्वेषण करना है जो मनुष्य एवं मनुष्य के बीच, मनुष्य एवं समाज के बीच तथा समाज एवं समाज के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध का मार्ग प्रशस्त कर सके। इस दृष्टि से समाजशास्त्र का अध्ययन विकास की प्रक्रिया के क्षितिज पर आदि नूतन प्रयास है। इस दृष्टि से समाज दर्शन एवं समाजशास्त्र में कोई मौलिक भिन्नता नहीं है, बल्कि इन्हें एक दूसरे का पूरक स्वीकारा जाना श्रेयस्कर है।

भारतीय समाज दर्शन एवं पाश्चात्य समाज दर्शन में दृष्टिकोण की भिन्नता के बावजूद एकतत्वता को अस्वीकारा नहीं जा सकता। प्रथम का आधार जहाँ जगत एवं जीवन की समस्या का सैद्धान्तिक निरूपण करना है, वहाँ दूसरे का सम्बन्ध इनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों के निरूपण से है। पाश्चात्य समाज दर्शन व्यक्ति के महत्त्व पर बल देता है, जबकि भारतीय समाज दर्शन में उनके कर्तव्यों की महत्ता को स्वीकारा गया है इस दृष्टि से भारतीय एवं पाश्चात्य समान दर्शनों में भिन्नता देखी जा सकती है।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में तत्तकालीन वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का वर्णन विकासात्मक दृष्टिकोण से किया गया है। इनके अनुसार विकास की प्रक्रिया अपनी गोद में व्यक्ति और समाज को रखे हुये है और दोनों बिकास के विभिन्न स्तरों से आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिये गुजरते हैं। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन इस तथ्य का साक्षी है कि भारत में धर्म को समाज दर्शन का मेरुदण्ड माना गया है। वस्तुतः धार्मिक भावना ही भारतीय जीवन के सामाजिक और राजनैतिक प्रणाली का आधार है। धर्म ही वह आधार है जो भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को बाँधता है तथा मानव जीवन के पारस्परिक क्रमबद्धता को नियमित करता है। भारत में समाज दर्शन की सामान्य गतिविधियाँ व्यक्ति और समाज

के सफल विकास पर निर्भर हैं। विज्ञान और तकनीकी विकास के साथ तथा मानव जीवन में विभिन्न सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप समाज दर्शन और मुख्यतः भारतीय समाज दर्शन में नया मोड़ आया है किन्तु इन परिवर्तनों के बाद भी भारतीय समाज दर्शन की मौलिकता सर्वथा कायम ही है।

राय का समाज दर्शन मार्क्सवादी समाज दर्शन का उदाहरण है। मार्क्स ने माना है कि मनुष्य की चेतना का निर्धारण उसके भौतिक एवं सामाजिक वातावरण के आधार पर ही होता है। राय इस विचार से पूर्णतः सहमत हैं। किन्तु रूढ़िवादी साम्यवाद की मार्क्सवादी व्याख्या से वे अपनी सहमति प्रकट नहीं करते। साम्यवाद की परिसीमा को पार करते हुये वे मानवतावाद का समर्थन करते हैं। किन्तु विशुद्ध मार्क्सवाद से इनका कोई विभेद नहीं है। रूढ़िवादी मार्क्सवाद की अपूर्णताओं पर प्रकाश डालते हुये इन्होंने यह बतलाया है कि साम्यवाद की सैद्धान्तिक व्यवस्था में भी वैयक्तिक स्वतंत्रता की अस्वीकारोक्ति है। अतः राय मानते हैं कि मार्क्सवाद को नये धरातल पर उपस्थित करने के लिए उग्र सुधारवादी विचार का समर्थन अनिवार्य है। अतः मार्क्सवाद को रूढ़िवादिता की ओर अधः पतन से बचाना ही राय के उग्र सुधारवाद का उदेश्य है।

राय आज मनुष्यों को संकटों के बीच से गुजरते हुए देखते हैं तथा इसे वैयक्तिक स्वतंत्रता का संकट कहते हैं। इनके अनुसार आज व्यक्ति के अस्तित्व को पूर्णतः मिटाकर एक "सामूहिक इगो" जिसे राष्ट्र अथवा वर्ग कहते हैं पर बलिदान कर दिया गया है। अतः एक नये दृष्टिकोण, एक नये दर्शन तथा एक नई संरचना की आवश्यकता पर वे जोर देते हैं। अतः समाज दर्शन के उग्र वादी सुधार पर बल देते हुए राय यह मानते हैं कि आज वैसे समाज दर्शन की आवश्यकता है जो पूर्व के समाज दर्शन के मौलिक परिवर्तन का रूप है। ऐसे समाज दर्शन में ही व्यक्ति एवं समाज से सम्बन्धित समस्याओं का सत्यान्वेषण सम्भव है।

व्यक्ति एवं समाज से सम्बन्धित कतिपय समस्याओं की समीक्षा करते हुए वे नये समाज दर्शन की पुर्नस्थापना पर जोर देते हैं। ऐसी ही सामाजिक समस्याओं में वे राजनीति की चर्चा करते हैं। इनके अनुसार आज के समाज में राजनैतिक दलों द्वारा राजनैतिक शक्ति के दुरूपयोग ने उन्हें अलोक प्रिय बना डाला है। आज राजनीति को दुर्जनों का घर तथा राजनीतिज्ञों को खतरनाक मनुष्यों के रूप में देखा जाने लगा है। इस प्रकार की घृणा तथा अश्रद्धा के फलस्वरूप सामाजिक मन के उपर भी अशुभ प्रभाव पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में लोग न केवल क्रियाशील सामाजिक अभिकर्ताओं में ही

विश्वास खो चुके हैं वरन उनकी आस्था अपने आप पर भी समाप्त हो चुकी है। ऐसे निराशा के वातावरण में भाग्यवाद को प्रश्रय मिल रहा है। अतः राय नये राजनैतिक दर्शन के सृजन की बात करते हैं जो वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वाधिक प्रश्रय दे सकता है। आज के समय की माँग भी यही है। ऐसी राजनीति का मुख्य आधार नैतिकता को मानना होगा तथा जब सामाजिक जीवन में नैतिकता केन्द्रीय स्थान ले लेगी तो निश्चित रूप से राजनीति में शुद्धता आयेगी तथा ऐसी शुद्धता से सामाजिक जीवन पवित्र होगा जिससे नये समाज दर्शन की रचना होगी।

राय के अनुसार समाज के स्वरूप एवं उत्पत्ति को लेकर दो प्रकार के विचार प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार समाज पहले से निर्मित है तथा व्यक्ति उसके अंग होने के कारण अपने को उससे अभियोजित करते हैं। दूसरे विचार के अनुसार समाज ईश्वर की सृष्टि नहीं है, बल्कि मानव द्वारा निर्मित है। राय के अनुसार दोनों में से दूसरा विचार तार्किक दृष्टि से सुसंगत है। अतः राय ऐसे ही विचार का समर्थन करते हैं। समाज की रचना के कारणों की व्याख्या करते हुये राय की यह मान्यता है कि समाज की रचना समय के क्रम में विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप हुई है जो कालक्रम में अधिक प्रयोजनपूर्ण एवं जटिल रूपों में हमारे सामने आया है। राय यह मानते हैं कि कोई सिद्धान्त जो समाज को व्यक्ति के उपर महत्त्व देता है, दोषपूर्ण है क्योंकि कि यह मनुष्य को मशीन का एक अंश मान लेता है तथा व्यक्तित्व एवं मानव व्यक्ति के स्वतंत्रता के प्रति अन्याय करता है। राय के अनुसार समाज की तरह राज्य भी वैयक्तिक स्वतंत्रता की अनुभूति के साधन हैं। मार्क्सवादियों की आलोचना करते हुए वे बतलाते हैं कि मार्क्सवादी राज्य को दबाब का एक अंग मानते हैं। राय के अनुसार व्यक्ति के जीवन में बैयक्तिक स्वतंत्रता का प्राथमिक स्थान है। समाज एवं व्यक्ति के बीच तथा राज्य एवं व्यक्ति के बीच का वास्तविक सम्बन्ध व्यक्ति एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा पर ही निर्भर है।

राय के समाज दर्शन की सबसे बड़ी देन उनके राजनैतिक कार्य की धारणा है। यह राजनीति बिना पार्टी एवं बिना प्रभुत्व की राजनीति है। राय के अनुसार मानवतावादी राजनीति राजनैतिक प्रभुत्व से जुझने के निषेध की राजनीति है। इस प्रकार राय राजनीति के स्वरूप एवं लक्ष्य में उग्र सुधारवादी प्रतीत होते हैं। इनके अनुसार राजनीति का लक्ष्य वास्तविक प्रजातंत्र के लिये परिस्थिति का निर्माण करना है जहाँ व्यक्ति एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा हो सके। ऐसी राजनीति के रूप को वे वस्तुतः लोकसमिति का रूप मानते हैं तथा इसे प्रजातांत्रिक शक्ति के

साधन के रूप में स्वीकारते हैं। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण समाज सह अस्तित्व पर आधारित होकर राज्य के दबाब का साधन नहीं, बल्कि लोक द्वारा संगठित लोक सरकार लोक हित में ही होगी। राय प्रजातंत्र के आवश्यक आधार के रूप में शिक्षा की चर्चा करते हैं। इनके अनुसार किसी भी राजनैतिक पार्टी का लक्ष्य शक्ति की प्राप्ति नहीं होकर सामान्य जन को शिक्षित करने का लक्ष्य है। लोक शिक्षा ही सफल प्रजातंत्र की प्रथम शर्त है। शिक्षा का अर्थ पुस्तकों के ज्ञान से नहीं बल्कि मनुष्यों में विवेकी तत्व के परिवर्धन से है जिसके माध्यम से वह अपनी संभावनाओं तथा उत्तरदायित्वों के प्रति सजग हो पाता है। ऐसी शिक्षा की चरम परिणति आत्म शिक्षा में देखी जा सकती है। अतः राय के अनुसार आदर्श समाज, आदर्श राज्य एवं आदर्श शासन के साथ-साथ व्यक्ति की प्रमुखता, वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं शिक्षा के महत्व की प्रति स्थापना ही समाजशास्त्रीय विचारों का केन्द्र स्थल है। ऐसे ही समाज दर्शन उग्र सुधारवादी समाज दर्शन हैं जिसे आदर्श समाज दर्शन की संज्ञा दी जा सकती है।

मानवेन्द्र नाथ राय के ज्ञानमीमांसीय, तत्वमीमाँसीय, आचारशास्त्रीय एवं समाज शास्त्रीय विचारों के क्रमबद्ध विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन चार मान्यताओं पर आधारित इनका दर्शन यथापूर्व स्थितिवादी दार्शनिक विचारों में आमूल परिवर्तन लाने का सफल प्रयास है। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में इन्हें न तो प्रत्ययवादी कहा जा सकता है और न अनुभववादी ही। यह न तो परम्परावादी भौतिकवादी पर आधारित है और न तो यह रूढ़िवादी बुद्धिवाद को ही प्रश्रय देता है। ऐसी ज्ञानमीमांसा का केन्द्रस्थल मनुष्य है. वैसे विवेकशील मनुष्य जो अपने बुद्धि एवं अनुभव के सफल समायोजन द्वारा वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति कर जीवन एवं जगत की समस्याओं का समाधान ही नहीं करते बल्कि उनमें मौलिक परिवर्तन ला कर मानव व्यक्ति की प्रतिष्ठा में गुणात्मक परिवर्तन लाना चाहते हैं।

अपने तत्वमीमांसीय विचार में भी राय जड़ एवं चेतन की भौतिकवादी व्याख्या करते हैं। ऐसे भौतिकवाद परम्परावादी भौतिकवाद से भिन्नता रखते हुये समस्त विचारों को अतिवैज्ञानिक एवं मानवतावादी आधार पर आधारित करते हैं। अतः तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में राय के विचार उग्र सुधारवादी भौतिकवाद (रेडिकल मैटेरेयलिज्म) के रूप हैं।

आचारशास्त्र के क्षेत्र में वे भौतिकवादी आचारशास्त्र को स्वीकार करते हैं। किन्तु अपने आचारशास्त्रीय विचारों में वे परम्परावादी भौतिकवादी आचारशास्त्रीय विचारों में आमूल परिवर्तन करते हुये दीखते हैं। ऐसे आचारशास्त्र को उग्र सुधार-वादी आचारशास्त्र (रेडिकल इथिक्स) की संज्ञा दी जा सकती है।

जहाँ तक सामाज शास्त्रीय विचारों का प्रश्न है राय ऐसे विचार क्षेत्र में भी उग्र सुधारवादी हैं। आदर्श समाज, आदर्श राज्य के साथ-साथ स्वतंत्रता एवं समानता पर आधारित व्यक्ति एवं समाज की परिकल्पना वे करते हैं तथा मानते हैं कि समाज दर्शन का काम सामाजिक नैतिकता को प्रोन्नत करना है, वैसे ज्ञानात्मक, तत्वात्मक एवं नैतिक शृंखलाओं का निर्माण करना है जिससे प्रवहशील समाज दर्शन का सृजन होता रहे तथा व्यक्ति एवं समाज के उत्थान के साथ-साथ मानवता का भी उत्थान हो।

राय मानव अनुभूति की प्रमुखता को स्वीकार करते हैं तथा इसे ही वे तत्व के स्वरूप की कुंजी मानते हैं। इस दृष्टि से वे सी० डब्लू मॉरिस (सिक्स थ्योरीज ऑफ माइन्ड पृष्ठ 183-184) के विचारों के निकट प्रतीत होते हैं। ये मानते हैं कि आत्मानुशासन तथा आत्म बिकास के द्वारा ही व्यक्ति, समाज एवं राज्य तथा उनके बीच का परस्पर विकास सभव है। ऐसे विकासशील जीवन को वे प्रजातांत्रिक जीवन प्रणाली कहते हैं। इनका यह विश्वास है कि ऐसी प्रजातांत्रिक जीवन प्रणाली का विकास तत्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में ही संभव है जिसका वास्तविक स्वरूप उग्र सुधारवादी है। इस विचार की दृष्टि से इनकी तुलना प्रमुख वैज्ञानिक एवं दार्शनिक ए० एन० ह्वाइट हेड (एडभेन्चर्स ऑफ आइडियाज) से की जा सकती है। ये यह मानते हैं कि जीवन दर्शन के पीछे एक विशिष्ट तर्काधार है, मूलाधार है तथा बुद्धिसम्मतता है। इस प्रकार जीवन एवं ज्ञान के बीच, जीवन एवं तत्व के बीच, जीवन एवं नैतिकता के बीच तथा जीवन एवं सामाजिक तथ्यों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं है बल्कि ये सभी अवियोज्य रीति से समिश्रित हैं। ये यह मानते हैं कि सामाजिक अन्तरदृष्टि को ज्ञानमीमांसीय भूमि में ही समझा जा सकता है। इस दृष्टि से इनकी तुलना प्रमुख सामाजशास्त्री एवं दार्शनिक कार्ल मैन हेम (आइडियोलॉजी एन्ड यूटोपिया पृष्ठ-239) से की जा सकती है। राय के इन विचारों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपने समस्त विचारों में वे उग्र सुधारवादी हैं। इनके, दार्शनिक विचार नवदर्शन एवं नव-विज्ञान का एकीकरण एवं समाकलन हैं जहाँ सफल उग्र मानवतावादी विचार अपने चरम रूप में देखने को मिलते हैं जिसका उत्स फलवादी एवं आमूल परिवर्तनवादी है। इस दृष्टि से इनके दर्शन को उग्र सुधारवादी मानवतावाद (रैडिकल ह्यूमेनिज्म) का सर्वाधिक औचित्य प्रतीत होता है।

संदर्भ एवं सहायक ग्रन्थों की सूची

मुख्य स्रोत :

राय, एम० एन०	:	ह्वाट डू वी वान्ट ? जे० बी० टारजेट जेनेवा, 1922.
,,	:	इंडियाज प्रॉबलेम एण्ड इट्स सॉल्यूसन, नचिकेता पब्लिकेशन्स, बम्बई, 1923.
,,	:	आई एक्यूज, ए० के० शर्मा, न्यूयार्क, 1932.
,,	:	माई डिफेन्स, कमिटी ऑफ एक्सन फॉर इन्डीपेन्डेन्स, पांडिचेरी, 1932.
,,	:	मैटेरीयलिज्म एन्ड स्प्रीच्यूलिज्म, आर० डी० नाडकर्णी, बम्बई, 1937.
,,	:	माई क्राइम, आर० डी० नाडकर्णी, बम्बई, 1937.
,,	:	फासिज्म इट्स फिलासॉफी प्रोफेसन्स एण्ड प्रैक्टिस, डी० एम० लायब्रेरी, कलकत्ता, 1938.
,,	:	ह्वाट इज मार्क्ससिज्म ? एम० आर० शेट्टी, बम्बई, 1938.

राय, एम० एन० : साइन्स एण्ड सुपरस्टीशन,
इंडियन रेनाशाँ एसोसियेसन,
देहरादून, 1940.

,, : साइन्स,
फिलासॉफी एण्ड पॉलिटिक्स,
जे० एस० अग्रवाल,
मुरादाबाद, 1940.

,, : द न्यू पाथ,
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी,
बम्बई, 1940.

,, : मैन एण्ड नेचर,
द इंडियन रेनाशाँ पब्लिकेशन,
देहरादून, 1940.

,, : माई डिफरेन्सेज वीथ द काँग्रेस,
भी० बी० कार्णिक,
बम्बई, 1940.

,, : गाँधीज्म, नेशनलिज्म, सोसलिज्म,
बंगाल रैडिकल क्लब,
कलकत्ता, 1940.

,, : फ्रॉम सैभेगरी टु सिभिलायजेसन,
डाईजेस्ट बुक हाउस,
कलकत्ता, 1940.

,, : ऑरीजीन ऑफ रैडिकलिज्म इन
द काँग्रेस,
न्यू लाइफ यूनियन,
लखनऊ विश्वविद्यालय, 1942.

,, : नेशनलिज्म,
डेमोक्रेशी एण्ड फ्रीडम,
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी,
बम्बई, 1942.

राय, एम० एन० : नेशनलिज्म : ऐन एन्टीक्वेटेड कल्ट,
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी,
बम्बई, 1942.

" : इंडिया एन्ड वार,
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी,
लखनऊ, 1942.

" : द कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल,
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी,
दिल्ली, 1943.

" : फ्रीडम ऑर फासिज्म ?
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी,
दिल्ली, 1943.

" : द फ्यूचर ऑफ सोसलिज्म,
रेनाशाँ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1943.

" : पॉभर्टी ऑर प्लेन्टी ?
रेनाशाँ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1943.

" : योर फ्यूचर : ऐन अपील ट् द एजुकेटेड मिडिल क्लास,
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी,
लखनऊ, 1944.

" : वर्ल्ड क्रायसिस,
रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी
अहमदाबाद, 1944.

" : प्लानिंग ए न्यू इंडिया,
रेनाशाँ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1944

राय, एम० एन० : कन्सटीच्यूसन ऑफ फ्री इंडिया, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, दिल्ली, 1945.

,, : फ्यूचर ऑफ डेमोक्रेसी इन इंडिया, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, दिल्ली, 1945.

,, : लास्ट बेट्ल्स ऑफ फ्रीडम, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, दिल्ली, 1945.

,, : द प्रॉब्लेम ऑफ फ्रीडम, रेनाशॉ पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1945.

,, : न्यू ओरियेन्टेशन, रेनाशॉ पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1946.

,, : प्रिंसिपुल्स ऑफ रैडिकल डेमोक्रेशी : ट्वेन्टी टू थीसीसेज, प्रबोध भट्टाचार्जी, कलकत्ता, 1947.

,, : साइन्स एण्ड फिलासॉफी, रैनाशॉ पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1947.

,, : साइन्टिफिक पॉलिटिक्स, (द्वितीय संस्करण), रैनाशॉ पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1947.

,, : एशिया एण्ड द वर्ल्ड, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, दिल्ली, 1947.

,, : मैटेरियलिज्म : ऐन आउट लाईन ऑफ द हिस्ट्री ऑफ साइन्टि-फिक थॉट,
रेनाशॉ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1951.

,, : रैडिकल ह्यूमेनिज्म,
इस्टर्न इकॉनामिस्ट,
दिल्ली, 1952.

,, : रीजन,
रोमांटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूसन,
(दो खण्डों में) रेनाशॉ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1952-55.

,, : न्यू ह्यूमेनिज्म,
(द्वितीय संशोधित संस्करण)
रेनाशॉ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1953.

,, : फ्रेगमेन्ट्स ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी,
खण्ड-2, 1957.

,, : द हिस्टोरिकल रोल ऑफ इस्लाम,
रेनाशॉ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1958.

,, : पॉलिटिक्स पावर एन्ड पार्टीज,
रेनाशॉ पब्लिशर्स,
कलकत्ता, 1960.

,, : एम० एन० रायज मेमोवायर्स,
एलायड पब्लिशर्स,
बम्बई, 1964.

,, : द फ्यूचर ऑफ़ इंडियन पॉलि-टिक्स, द मिनर्वा एसोसियेट्स,
कलकत्ता, 1971.

राय, एम० एन० तथा सिंह, के० के० : रायीज्म एक्सप्लेन्ड, सरस्वती लायब्रेरी, कलकत्ता, 1938.

राय, एम० एन० तथा कार्णिक, भी० वी० : आवर डिफेरेन्सेज, सरस्वती लायब्रेरी, कलकत्ता, 1938.

" : आवर प्रॉब्लेम्स, बारेन्द्र लायब्रेरी, कलकत्ता, 1938.

राय, एम० एन० तथा राय, एवेलिन : वन इयर ऑफ नानकॉपरेसन, रेनाशाँ पब्लिशर्स, कलकत्ता।

राय एम० एन० तथा स्प्रैट, फिलिप : बियोन्ड कम्यूनिज्म टु ह्यूमेनिज्म, रेनाशाँ पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1947.

राय, एम० एन० तथा मुकर्जी, अवनी : इंडिया इन ट्रान्जिसन, नचिकेता पब्लिकेशन्स, बम्बई, 1970.

अन्य सहायक ग्रन्थ

अन्डरवुड, ए० सी० : कन्टेमपररी थॉट ऑफ इंडिया, विलियम्स एन्ड नॉरगेट लि०, लन्दन, 1930.

अन्नम भट्ट : तर्क संग्रह (मेहेनडाले, के० सी० द्वारा सम्पादित) भारत-भारती, वाराणसी, 1980.

इलियट, सर चार्ल्स : हिन्दूज्म एन्ड बुद्धिज्म, ऐन हिस्टोरि कल स्केच, (तीन खंडों में) एडवर्ड अरनोल्ड एन्ड को०, लन्दन, 1921.

इशरवुड, क्रिस्टोफर : वेदान्त फॉर द वेस्टर्न वर्ल्ड, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, 1948.

ईश्वर कृष्ण : सांख्यकारिका (डॉ० वैद्यनाथ पांडेय द्वारा सम्पादित), भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1980.

एडवर्ड्स, पाल द्वारा सम्पादित : द इन सायक्लोपिडीया ऑफ फिलासॉफी, (खंड-तीन एवं पाँच) द मैकमिलन कम्पनी एन्ड द फ्री प्रेस, न्यूयार्क, 1967.

एफानसयेव, भी० : मार्क्सिस्ट फिलासॉफी, (लैम्पर्ट, एल० द्वारा अनुदित), फॉरेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को।

ऐयर, ए० जे० : द कांसेप्ट ऑफ ए परसन एन्ड अदर एसेज, मैकमिलन एन्ड को० लन्दन, 1963.

" : द नेचर ऑफ मैन एकॉडिंग टु वेदान्त, रॉलेज एन्ड कीगन पाल, लन्दन, 1956.

ओझा, डॉ० विष्णुदेव नारायण : एम० एन० राय एन्ड हिज फिलॉसॉफिकल आइडियाज, शंखनाद प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, 1969.

क्रोचे, बेनेडेट्टो : माई फिलासॉफी, एलेन, एन्ड अनविन लि० लन्दन, 1951.

कीन्स, जे० एम० : ए ट्रिटाइज ऑन प्राबेविलिटि, मैक मिलन एन्ड को०, 1921.

केयर्ड, एडवर्ड : फिलासॉफी ऑफ रीलीजन, जेम्स मैकलेहॉस एन्ड सन्स, ग्लासगो, 1894.

कीथ, ए० बी० : रीलीजन एन्ड फिलासॉफी ऑफ वेदाज, एन्ड उपनिषद्स, हार्वर्ड, 1925.

कॉप्लेस्टन, एफ़० : कन्टेमपररी फिलासॉफी, बर्न्स एन्ड ओट्स, लन्दन, 1957.

केनेथ, आई० : रीफॉर्मर्स इन इंडिया, द यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1956.

गुप्ता, एस० एन० दास : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासॉफी, (खंड एक से चार) कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963.

ग्रोवर, डी० सी० : एम० एन० राय : ए स्टडी ऑफ रिवोल्यूसन, एन्डरीज्न इन इंडियन पॉलिटिक्स, द मिनर्वा एसोसियेट्स, कलकत्ता, 1973.

गौतम : न्याय-सूत्र (गंगा नाथ झा द्वारा सम्पादित), पूना, 1939.

गैलवे : द फिलासॉफी ऑफ रीलीजन, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, 1952.

गोखले, बी० जी० : द मेकिंग ऑफ द इंडियन नेशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1960.

चटर्जी, सतीश चन्द्र : द प्राब्लेम्स ऑफ फ़िलासॉफी, दास गुप्ता एन्ड को० लि०, कलकत्ता, 1947.

चिन्तामणी, सी० वाई० : इंडियन पॉलिटिक्स सीन्स द म्यूटीनी, किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1947.

जकारिया, एच० सी० ई० : रेनासेन्ट इंडिया, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन, लन्दन, 1933.

जॉर्ज रिचर्ड, टी० डे० : क्लासिकल एन्ड कन्टेमपर्री मेटाफिजिक्स, न्यूयार्क, 1962.

जैमिनि : पूर्वमीमांसा सूत्र (शबर स्वामी के भाष्य सहित) बनारस, 1910.

जोड, सी० ई०, एम० : मैटर लाइफ एन्ड वैल्यू, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1929....

झा, गंगा नाथ : प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमांसा, इंडियन थॉट, इलाहाबाद, 1911.

टाइटस, एच० एच० : लिभिग इसूज इन फिलासॉफी, (पंचम संस्करण), वैन नौस्ट्रैण्ड रैनहोल्ड कम्पनी, न्यूयार्क, 1970.

टेलर, ए० ई० : एलिमेन्ट्स ऑफ मेटाफिजिक्स, (तृतीय संस्करण), मैथ्यू एन्ड को लि०, इसेक्स स्ट्रीट, लन्दन।

डायसेन, पी० : द एलिमेन्ट्स ऑफ मेटाफिजिक्स, मैकमिलन एन्ड को०, लन्दन, 1894.

" : द सिस्टम्स ऑफ वेदान्त, शिकागो, 1912.

" : द फिलासॉफी ऑफ द उपनिषद्स, ऑरियेन्टल पब्लिशर्स, दिल्ली, 1972.

डे, जॉन पैट्रिक : इन्डक्टिव प्राबेबिलिटी, रॉलेज एन्ड कीगन पाल लि०, लन्दन, 1961.

तारकुण्डे, भी० एम० : रैडिकल ह्‌यूमेनिजम : द फिलासॉफी ऑफ फ्रीडम एन्ड डेमोक्रेशी, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1983.

दत्त, डी० एम० : द चीफ करेन्ट्स ऑफ कन्टेमपर्‌री फिलासॉफी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1950.

दयानन्द, स्वामी : सत्यार्थ प्रकाश, वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, 1959.

दामोदरन, के० : इंडियन थॉट-ए क्रिटीकल सर्वे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,

देसाई, ए० आर० : सोसल बैकग्राउन्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1966.

दास, आर० एस० : एम० एन० राय, द ह्‌यूमेनिस्ट, टावर पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1956.

दासगुप्ता, बी० एन० : एम० एन० रायः क्वेस्ट फॉर फ्रीडम, के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता।

दान्ते, भी० एच० : वेदान्त एक्सप्लेन्ड, खंड-2, बम्बई, 1954.

धर, निरंजन : द पॉलिटिकल थॉट ऑफ एम० एन० राय, यूरेका पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1966.

नरवणे, भी० एस० : मॉडर्न इंडियन थॉट, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1964.

पतंजलि : योग सूत्र (स्वामी प्रभावानन्द द्वारा अनुदित) श्री राम कृष्ण मठ, मद्रास, 1953

प्रकाश चन्द्र : द पॉलिटिकल फिलासॉफी ऑफ, एम० एन० राय, अप्रकाशित (लखनऊ विश्वविद्यालय पुस्तकालय में उपलब्ध)।

पेट्रोसेयन, एम० : ह्यूमेनिज्म, प्रोग्रेस पब्लिशर्स मास्को, 1972.

पैसमोर, जे० : ए हन्ड्रेड इयर्स ऑफ फिलासॉफी, रॉलेज एन्ड कीगन पाल, लन्दन, 1957.

पैट्रिक, जी० टी० एम० : इन्ट्रोडक्सन टु फिलासॉफीं,

पूरोहित, बी० आर० : हिन्दू रिभाइवलिज्म एन्ड इंडियन नेशनलिज्म, सेठी प्रकाशन; सागर, 1965.

फारक्यूहर, जे० एन० : मॉडर्न रिलिजियस मूभमेन्ट इन इंडिया, मैकमिलन एन्ड को० न्यूयार्क, 1918.

फ्रेजर, आर० डब्लू० : इंडियन थॉट, पास्ट एन्ड प्रजेन्ट, टी० फिशर अनविन लि०, लन्दन, 1915.

फूलर, बी० एन० ओ० : ए हिस्ट्री ऑफ फिलासॉफी, ऑक्सफोर्ड एन्ड आई० बी० एच० पब्लिशिंग, कम्पनी, नई दिल्ली, 1969

फारबर, मार्विन : बेसिक इसूज ऑफ फिलासॉफी, हारपर एन्ड रो पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1968.

फालकेनवर्ग, रिचर्ड : हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न फिलासॉफी, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1980.

बक, एम० ए० : द डेभेलोपमेन्ट ऑफ कन्टेमपरेरी इंडियन पॉलिटिकल थॉट, खंड-एक, गुड कम्पेनियन्स, बड़ोदा।

बाली, डॉ० देवराज : मॉडर्न इंडियन थॉट, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लि०, नई दिल्ली, 1980.

बनर्जी, एन० भी० : द स्प्रीट ऑफ इंडियन फिलासॉफी, आरनॉल्ड, हैनेमेन पब्लिशर्स प्राईवेट लि०, नई दिल्ली, 1974.

विवेकानन्द, स्वामी : कम्पलीट वर्क्स, खंड-चार अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1962.

विन्टर, गिभसन : एलिमेन्ट्स फॉर ए सोसल इथिक्स,

ब्रैडले, एफ० एच० : द प्रिंसिपुल्स ऑफ लॉजिक, खंड-एक, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1967.

,, : एपियेरेन्स एन्ड रियलिटी, क्लारेन्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1930.

बोटोमोर एन्ड रूबेल : कार्ल मार्क्स सी० ए० वाट्स एन्ड को० लि०, 1961.

ब्रॉड, सी० डी० : साइन्टिफिक थॉट, लन्दन, 1952.

बर्गसॉं, हेनरी : क्रियेटिव इभोल्यूसन (आर्थर मिचेल द्वारा अनूदित) द मॉडर्न लायब्रेरी, न्यूयॉर्क, 1944.

बेनेडेट्टो, ऐ० जे० : फन्डामेन्टल्स इन द फिलासॉफी ऑफ गॉड, मैकमिलन एन्ड को०, न्यूयार्क, 1963.

भट्टाचार्या, एस० एम० : द प्रिन्सिपुल्स ऑफ फिलासॉफी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1969.

भट्टार्जी, जी० पी० : इभोल्यूसन ऑफ पालिटिकल फिलासॉफी, ऑफ एम० एन० राय, द मिनर्वा एसोसियेट्स, कललत्ता, 1971.

मार्टिन, जैक्वेस : ह्यूमेनिज्म, लन्दन, 1941.

मिश्र, उमेश : हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासॉफी, त्रिभुक्ति पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1957.

मिश्र, वाचस्पति : भामती, निरनाय सागर प्रेस, बम्बई,

मिहालिच, जे० सी० : एकझीसटेनसियलिज्म एन्ड थॉमिज्म, द विजडम लायब्रेरी, न्यूयॉर्क, 1960.

महादेवन, टी० एम० पी० : द फिलासॉफी ऑफ अद्वैत, गणेश एन्ड को० मद्रास, 1957.

,, इनभिटेसन टु इंडियन फिलासॉफी, आरनोल्ड हैनिमेन पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1975.

मूर, जी० ई० : फिलासॉफिकल स्टडीज, रॉलेज एन्ड कीगन पाल, लन्दन, 1960.

मॉरिस, सी० डब्लू० : सिक्स थ्योरीज ऑफ माइन्ड, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1932.

मैनहेम, कार्ल : आइडियोलॉजी एन्ड यूटोपिया' हरकॉर्ट, ब्रॉस एन्ड कम्पनी, न्यूयार्क, 1936.

मूर्त्ति, के० एस० : मेटाफिजिक्स, मैन एन्ड फ्रीडम, एशिया पब्लिशिंग हाउस, लन्दन, 1960.

मुखर्जी, राधा कमल : द सोसल स्ट्रक्चर ऑफ भैल्यूज, ।

मैकफरसन, थॉमस : सोसल फिलासॉफी, बैन नेस्टैण्ड, रैनहोल्ड कम्पनी, लन्दन, 1970.

मैकनिकॉल, एन० : द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया,

मैकेन्जी, जे० एस० : आउट लाइन्स ऑफ सोसल फिलासॉफी, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, ।

मोहन्ती, जे० एन० : गंगेशाज थ्योरी ऑफ ट्रूथ ।

मैक्समूलर, एफ० : सिक्स सिस्टम्स ऑफ इंडियन फिलासॉफी, लॉगमैन्स ग्रीन एन्ड को०, लन्दन, 1912.

मैक्समूलर, एफ० द्वारा सायन के भाष्य के साथ सम्पादित : ऋगवेद संहिता, (छः खंडों में) लन्दन, 1862-74.

योगी, सत्य भूषण द्वारा सम्पादित : मनुस्मृति, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1966.

राधा कृष्णन, एस० द्वारा अनुदित : मुण्डकोपनिषद, द प्रिन्सिपल उपनिषद, लन्दन, 1953.

" " : तैतरिय उपनिषद, द प्रिन्सिपल उपनिषद, लन्दन, 1953.

राधाकृष्णन, एस० द्वारा सम्पादित : द भगवद्गीता, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, 1970.

,, ,, : हिस्ट्री ऑफ फिलासॉफी, इस्टर्न एन्ड वेस्टर्न,(दो खंडो में) जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, 1967.

राधाकृष्णन, एस० : द फिलासॉफी ऑफ उपनिषद, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, 1926.

,, : इंडियन फिलासॉफी, खंड-एक और दो, जॉर्ज एलेन एन्उ अनविन लि०, लन्दन, 1941.

,, : ऐन आइडियलिस्ट भीव ऑफ लाइफ, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि०, लन्दन, 1952.

,, : द प्रजेन्ट क्रायसिस ऑफ फेथ, ऑरियेन्ट पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1970.

,, : रिकॉभरी ऑफ फेथ, ऑरियेन्ट पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1967.

,, : आबर हेरिटेज, ऑरियेन्ट पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1973.

रानाडे, आर० डी० : वेदान्त, द कलमिनेशन ऑफ़ इंडियन थॉट, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1970.

रानाडे, आर० डी० : ए कन्सट्रक्टिभ सर्वे ऑफ उपनिषदीक फिलासॉफी, ऑरियेन्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1926.

राय, शिव नारायण : रैडिकलिज्म, रेनाशाँ पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1946.

राय, एलेन, : रैडिकल डेमोक्रेसी, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, दिल्ली, 1944.

राय, समारेन : द रेस्टलेश ब्राह्मण-अर्ली लाइफ, ऑफ एम० एन० राय, एलायड पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1970.

राय, एलेन तथा राय शिव नारायण : इन मैन्स वोन इमेज, रेनाशाँ पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1948.

रैन्डल, जॉन, हरमन : हाऊ फिलासॉफी यूजेज इट्स पास्ट।

राय, बी० जी० : कन्टेमपर्री इंडियन फिलॉसफर्स, किताबिस्तान, इलाहाबाद 1947.

रोलाँ, रोम्याँ : लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा, 1931.

लाल, बी० के० : कन्टेमपर्री इंडियन फिलासॉफी, मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1973.

लैमॉन्ट, कार्लिस : ह्यूमेनिज्म ऐज ए फिलासॉफी, फिलासॉफिकल लायब्रेरी, न्यूयॉर्क।

वाइल्ड, जॉन : एकज़ीसटेन्स एन्ड द वर्ल्ड ऑफ फ्रीडम,
प्रेन्टिस हॉल, लन्दन, 1963.

शर्मा, आई० सी० : इथिकल फिलॉसफिज ऑफ इंडिया,
जार्ज एलेन एन्ड अनविन लि०,
लन्दन, 1965.

शर्मा, डॉ० उमा शंकर के भाष्य के सहित ; सर्व दर्शन संग्रह,
चौखम्बा विद्या भवन,
वाराणसी, 1978.

शर्मा, नन्द किशोर : भारतीय दार्शनिक समस्याये,
राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी,
जयपुर, 1976.

शर्मा, बी० एस० : द पॉलिटिकल फिलासॉफी ऑफ एम० एन० राय,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली।

शास्त्री, दक्षिणारंजन द्वारा सम्पादित : चार्वाक षष्ठी,
ज्योति,
पटना, 1980.

समादार, एम० सी० : ऑन हिस्ट्री,
रेनाशाँ क्लब,
पटना, 1947.

सार्त्र, ज्याँ पाल एकज़ीसटेनसियलिज्म एण्ड ह्यूमेनिज्म,
मैथवेन एण्ड को० लि०,
लन्दन, 1948.

,, : बीयींग एण्ड नथिंगनेश,
मैथवेन एन्ड को० लि०,
लन्दन, 1957.

सिंह, कर्ण : प्रोफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म,
जार्ज एलेन एन्ड अनविन लि०,
लन्दन, 1963.

सेलर्स, विलफ्रायड : साइन्स
परसेप्सन एण्ड रियलिटी।

स्टीफेन, डी० जे० : स्टडीज इन अर्ली इंडियन थॉट,
कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटीप्रेस,
1918.

स्टेश, डब्लू० डी० : ए क्रिटीकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक
फिलॉसॉफी,
मैकमिलन एण्ड को०,
लन्दन, 1956.

स्प्रैट, फिलिप : ब्लोईंग अप इंडिया,
प्राची प्रकाशन,
कलकत्ता, 1955.

हडसन, डब्लू० डी० : एकझिसटेनसियलिस्ट इथिक्स,
मैकमिलन एण्ड को०,
लन्दन, 1970.

हन्ट, आर० एन० क्रीव : द थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ
कम्यूनिज्म,
द मैकमिलन कम्पनी,
न्यूयार्क, 1951.

हिन्दी, ए० के० : एम० एन० राय—
द मैन हु लुक्ड अहेड,
द मॉडर्न पब्लिशिग हाउस,
अहमदाबाद, 1958.

हिरियाना, एम० : आउटलाइन्स ऑफ इंडियन
फिलासॉफी,
जार्ज एलेन एन्ड अनविन लि०,
लन्दन, 1964.

हिरियाना, एम० : द एसेनसियल्स ऑफ इंडियन फिलॉसॉफी, जॉर्ज एलेन एन्ड अनविन लि० लन्दन, 1949.

हॉस्पर्स, जॉन : ऐन इन्ट्रोडक्सन टू फिलॉसॉफिकल, एनालिसिस, एलायड पब्लिशर्स, बम्बई, 1971.

ह्वाइटहेड, ए० एन० : एडभेन्चर्स ऑफ आइडियाज ।